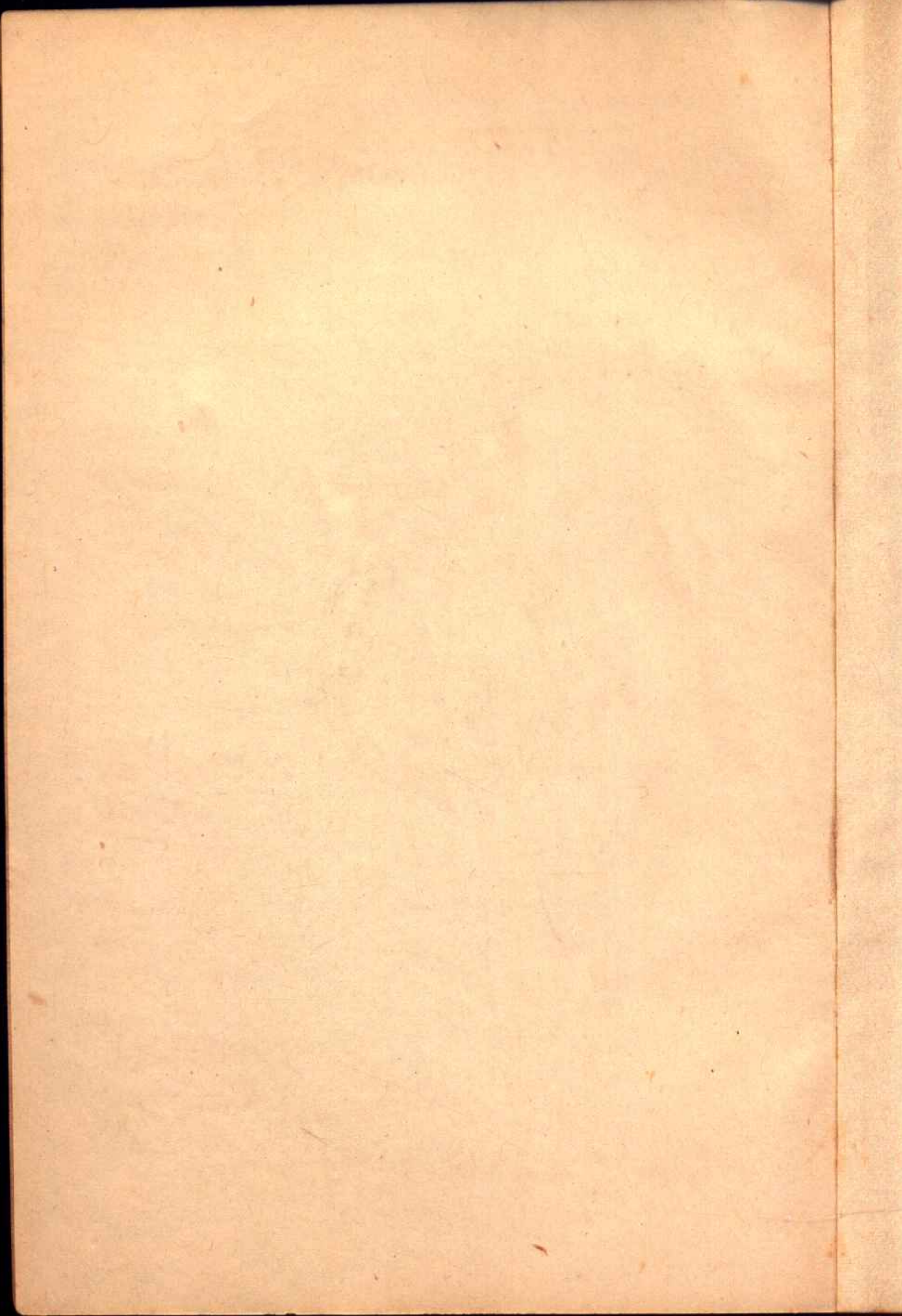
मानव-दर्शन



मानव सेवा संघ प्रकाशन



मानव-दर्शन



मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ, वृन्दावन,
मथुरा (उ० प्र०)





तीसरा संस्करण : ६,००० प्रतियाँ



मार्च सन् १९८५



मूल्य : तीन रुपये



भारत सरकार से प्राप्त रियायती कागज पर मुद्रित



मुद्रक :
मयूर प्रेस,
बद्री नगर, मथुरा।
फोन—४४९४

विषय-सूची



॥ ॐ ॥

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतु की कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायं

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

परिचय

मानव-दर्शन क्या है ? मानव की अपनी बात। मानव की अपनी बात क्या है ? वह कुछ जानता है, कुछ मानता है और कुछ करता है। उसकी जानकारी, मान्यता एवं उसके कर्मों में जब तक सामञ्जस्य नहीं आता तब तक उसका जीवन सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से भरा रहता है। परन्तु जब सामञ्जस्य हो जाता है तब विकास की ओर प्रगति होती है। मानव विकास का अभिलाषी है। अतः उसको अपनी जानकारी, मान्यता एवं अपने कर्मों में सामञ्जस्य रखना अनिवार्य है। यह मानव-दर्शन है।

प्रस्तुत पुस्तक में जानकारी, मान्यता और कर्मों का असामञ्जस्य दो रूपोंमें दिखाया गया है :—

(क) जैसा जानें एवं मानें उसके विपरीत चलना अर्थात् जाने हुए का अनादर, माने हुए में विकल्प एवं मिले हुए का दुरुपयोग करना।

(ख) जिसे जान सकते हैं उसमें मान्यता लगाना, जिसे किसी भी प्रकार का जाना नहीं जा सकता, जिसमें केवल आस्था की जा सकती है उसमें तर्क लगाना, जो करनेका है उसका चिन्तन करना और जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष नहीं है, उसके लिए श्रमित होना।

इस प्रकार असामञ्जस्य जीवन में अपनी ही भूल से आता है। इसे व्यक्ति अपने ही द्वारा मिटा सकता है। यह मानव का

पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ के लिए सामर्थ्य उसे प्राप्त है। यदि ऐसा न होता तो मानव-जीवन में पुरुषार्थ का प्रश्न ही न होता। अतः अपने जीवन में सामञ्जस्य बनाये रखने में प्रत्येक व्यक्ति समर्थ है, यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या जानता है ?

सबसे पहले उसे अपना भास होता है, 'मैं' हूँ। फिर इन्द्रिय दृष्टि से उसे जगत् की प्रतीति होती है। अपने में इच्छाएँ उठती हैं। जगत् में इच्छापूर्ति की सामग्री उसे दीखती है। इच्छापूर्ति के सुख के प्रलोभन से वह जगत् की ओर प्रवृत्त होता है। भोग-प्रवृत्ति में भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश होता है। शक्ति का ह्रास होने से असमर्थता, भोग्य वस्तु का विनाश होने से विवशता, एवं भोग की रुचि अतृप्त रह जाने से अभाव की पीड़ा से व्यक्ति पीड़ित होता है। यह उसका अपना अनुभव है। पीड़ित होकर जीना उसे सह्य नहीं है क्योंकि वह सुख-पूर्वक जीना चाहता है। अपनी चाह और अपनी दशा को वह अच्छी तरह जानता है।

मानव और क्या जानता है ?

निज अनुभव के आधार पर मानव यह भी जानता है कि संकल्पपूर्ति जीवन नहीं है क्योंकि सभी संकल्प किसी के भी पूरे नहीं होते, संकल्प-पूर्तिका सुख-भोग नये संकल्पों को जन्म देता है। संकल्प के आरम्भ में तनाव (Tension), अन्त में असमर्थता एवं संकल्पपूर्ति के सुख की तृष्णा के रूप में अभाव ही शेष रहता है। मध्य का सुखा-भास मानवको जड़ता एवं पराधीनता में बाँधता है। संकल्प-उत्पत्ति, पूर्ति, अपूर्तिके क्रम के अन्त में अभाव ही अभाव शेष रहता है। अभावजन्य खिन्नता

और नीरसता मानव के लिए असह्य है क्योंकि उसमें सरस जीवन की माँग है।

बुद्धि-दृष्टि से वह यह भी देखता है कि वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि में स्थायित्व नहीं है, अपितु इनमें सतत् परिवर्तन है। परिस्थितियों पर उसका नियन्त्रण नहीं है। फिर भी परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर व्यक्ति पराधीनता का अनुभव करता है। पराधीनता उससे सही नहीं जाती क्योंकि उसमें स्वाधीनता की माँग है।

निज विवेक के प्रकाश में मानव यह भी अनुभव करता है कि वह देह नहीं है, देह उसकी नहीं है। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, सामर्थ्य आदि जो कुछ उसके पास है वह सब उसे मिली हुई है, अपना व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है क्योंकि उन पर अपना कोई स्वतन्त्र स्वत्त्व नहीं है तथा उनसे अपना नित्य-सम्बन्ध भी नहीं है।

इतना जानते हुए भी यदि जीवनमें अपनी जानकारी का प्रभाव नहीं है, तो अवनति है और यदि प्रभाव है तो स्वाभाविक विकास है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से जो व्यक्ति सुख-दुःख का भोगी बनता है, बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से वही जिज्ञासु बनता है। मैं क्या हूँ ? जगत् क्या है ? इनकी खोज आरम्भ हो जाती है। जिज्ञासु में असत् के संग के त्याग की सामर्थ्य आती है। असत् के संग का त्याग मानव के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। इतना कर चुकने पर सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या मानता है ? प्रतीति और स्वीकृति में सद्भाव रखता है। यह मान्यता भूलजनित है, इसमें निस्सन्देहता नहीं

है। देह में अहम्‌बुद्धि होने से मानव प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य आदि में ममता कर लेता हैं जिसके करने से अहम् और मम् में सत्यता भासती है जो सभी विकारों की जननी है। अहम् के कारण विभिन्न स्वीकृतियोंमें जीवन-बुद्धि तथा मम् के कारण अनेक विकारों की उत्पत्ति होती है जो विनाश का मूल है।

यद्यपि उसकी मान्यता में निःसन्देहता नहीं होती क्योंकि वह देखता है कि देह बदलती जा रही है, पर स्वयं का भास ज्यों का त्यों है, देह को अपना मान कर उसको सुरक्षित रखने का लाख उपाय करने पर भी जरा और मृत्यु आती ही है, यह उसकी मान्यता का उसके निज अनुभव के साथ असामञ्जस्य है; परन्तु इन्द्रिय-जन्य सुख-लोलुपता के कारण देह से असंग नहीं होता। फलतः जड़ता, परिच्छिन्नता, पराधीनता एवं अभाव से पीड़ित होता ही है। यदि मानव निज अनुभव के आधार पर विवेक विरोधी मान्यताओं से रहित हो जाये तो स्वतः विकास होता है। अपने को देह और देह को अपना न मानने से मोह और लोभ आदि विकारों का नाश हो जाता है। निर्विकारता की स्वतः अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। विवेक-विरोधी मान्यता स्वीकार न करे, यह मानव का अपना निर्णय है। इस निर्णय में मानव समर्थ है। यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या करता है ?

मानव में कुछ जानने, कुछ मानने और कुछ करने की शक्ति है। क्रिया-जनित सुख के राग से प्रेरित होकर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। अपने में संकल्प उठते हैं। जगत् में संकल्प-पूर्ति की सामग्री दीखती है। संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से वह

कार्यमें प्रवृत्त होता है। सत्य और सुन्दर भासित होने वाली अस्तित्त्व-विहीन प्रतीति के पीछे व्यक्ति दौड़ता है, थकता है, जितना पाता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है; अन्त में शक्तिहीनता, पराधीनता और अभाव शेष रह जाता है। सुखासक्ति से प्रेरित होकर वह करणीय तथा अकरणीय सब प्रकार के कर्म करता है और परिणाम में घोर कष्ट पाता है। फिर भी यदि विवेक-विरोधी कर्मों का त्याग नहीं करता तो यह उसकी अनुभूति एवं कर्म का असामञ्जस्य है।

वह जानता है कि सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है; अपना किया हुआ कई गुणा होकर पुन: अपने पास आता है; भोग का परिणाम रोग और शोक है; मिले हुए का दुरुपयोग करना विनाश का मूल है; फिर भी भोग-प्रवृत्तियों से मुँह नहीं मोड़ता तो उसकी जानकारी और उसके कर्म का असामञ्जस्य है, अर्थात् वह जैसा जानता है उसके विरुद्ध करता है।

इसके विपरीत यदि वह अपनी जानकारी का आदर करे और विवेक विरोधी कर्मों का त्याग कर दे तो उसके जीवन में से अकर्त्तव्य का नाश हो जायगा। स्वार्थ-भाव, सेवा-भाव में विलीन हो जायगा। लोभ, मोह से रहित सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। सेवा-परायण मानव को परम-शान्ति मिलती है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह मानव की अपनी बात है। यह मानव का अपना दर्शन है। साराँश यह है कि विवेक विरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म जीवन में हैं, तो दु:ख है, अवनति है, अर्थात् जानकारी, मान्यता एवं कर्म में असामञ्जस्य है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म का त्याग कर दिया जाय तो दु:ख निवृत्ति, परम-शान्ति, अमरत्व

एवं सरसता प्राप्त होती है, अर्थात् वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। यह जानकारी, मान्यता एवं कर्म के सामञ्जस्य का परिणाम है। अपने जीवन में अपनी जानकारी का अनादर करके हम अपार दुःख भोगते हैं और उसका आदर करके विकास की चरम-सीमा तक पहुँच सकते हैं। यह मानव-दर्शन है।

जानकारी, मान्यता और कर्म के असन्तुलन का दूसरा रूप है—जिसे जान सकते हैं उसमें मान्यता लगाना, जिसे जाना नहीं जा सकता, केवल आस्था की जा सकती है, उसमें तर्क लगाना; जो करने से होता है, उसका चिन्तन करना और जिसकी प्राप्ति कर्म, चिन्तन, स्थिति से असंग होने पर होती है, उसकी प्राप्ति के लिये श्रम करना।

'मैं' और 'जगत्' को जाना जा सकता है, परन्तु हम इनके सम्बन्ध में अनेक मान्यतायें स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा करना भूल है। 'मैं' और 'जगत्' को विचार के क्षेत्र में इसलिए रखा गया है कि इनके सम्बन्ध में हमारी अधूरी जानकारी है; पूरी नहीं। अधूरी जानकारी के कारण सन्देह होता है, जिज्ञासा उत्पन्न होती है और खोज द्वारा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः 'मैं' के स्वरूप का बोध तथा 'जगत्' के स्वरूप का परिचय अनुसन्धान का विषय है; अनुमान अथवा मान्यता का नहीं।

सुने हुए प्रभु को जाना नहीं जा सकता प्रत्युत माना जा सकता है, क्योंकि सुने हुए प्रभु के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है, उसमें विश्वास ही किया जा सकता है, उस पर विचार नहीं चल सकता। जो सर्व का ज्ञाता है उसका कोई ज्ञाता नहीं हो सकता,

अपितु उसमें अविचल आस्था ही की जा सकती है; श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता के द्वारा उसका प्रेम प्राप्त किया जा सकता है। अतः जो केवल विश्वास का विषय है, उसमें तर्क लगाना भूल है।

आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन एवं उनकी प्राप्ति श्रम-साध्य है। जो श्रम-साध्य है उसका चिन्तन करने से उसकी प्राप्ति नहीं होती। अतः ऐसा करना भूल है।

योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नहीं है। निष्कामता में योग, असंगता में बोध, और आत्मीयता में प्रेम निहित है। निष्कामता, असंगता और आत्मीयता अभ्यास नहीं है, स्वधर्म है। जाने हुए असत् के संग को त्याग कर, श्रमरहित होने पर इनकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। परन्तु जब साधक निष्कामता से प्राप्त होने वाली शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अभ्यासों में प्रवृत्त होता है, असंगता से उदित होने वाली स्वाधीनता के लिए बौद्धिक व्यायाम करता है, तथा आत्मीयता से जाग्रत होने वाली नित-नव-प्रियता के लिए प्रेमी का अभिनय करता है, तो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता उसे नहीं मिलती। अतः ऐसा करना भूल है।

उपरोक्त भूलोंको अपने द्वारा जानना तथा इनको मिटाकर,

(क) 'मैं' और 'जगत्' के स्वरूप की खोज करना;
(ख) सुने हुए प्रभु की आस्था स्वीकार करना; एवं
(ग) मिले हुए का सदुपयोग करना; मानव का परम पुरुषार्थ है। ऐसा करते ही जानने, मानने तथा करने का असामाञ्जस्य मिट जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह मानव-दर्शन है।

उपरोक्त भूलों के कारण ही दार्शनिकों का दर्शन उनके जीवन की उपलब्धि नहीं बनता और अनेक दार्शनिक मत-भेद उत्पन्न होते हैं। किसी दर्शनकार ने जो कुछ कहा है, वह किन-किन दृष्टियों से ठीक है--इसी विवेचन में समय और शक्ति का अपव्यय होता रहता है। यह विवेचन आज मानव-जीवन से इतनी दूर हट गया है कि दर्शन-परिषद् में एक बार यह प्रश्न रखा गया था कि 'दर्शन' का 'जीवन' से सम्बन्ध है ? और यदि है तो क्या है ? जो विषय केवल 'जीवन' का ही विवेचन है, उसके सम्बन्ध में उपरोक्त प्रश्न का उठना स्वयं ही एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा विदित होता है कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से प्रतिपादित 'मैं', 'यह' और 'वह' के सम्वन्ध के विभिन्न सिद्धान्तों को बुद्धि के स्तर पर आलोचना का विषय बनाने से यह दशा हुई है।

"मानव-दर्शन" का प्रणयन बुद्धि के स्तर पर नहीं हुआ है। इसका दार्शनिक विवेचन अवस्थातीत जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर आधारित है। इसलिए इसमें एकांगीपन नहीं है। जीवन के गुह्यतम रहस्य खुल जाने के बाद, उच्चतम-विकास-प्राप्त अनुभवों द्वारा प्रतिपादित यह दर्शन मानव-जीवन को सभी परिप्रेक्ष्य में (in all perspectives) देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यह दर्शन अपनी अभिव्यक्ति एवं पहुँच (approach) में कई दृष्टियों से सर्वथा मौलिक है।

(१) इस दर्शन में केवल दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण ही नहीं है, व्यक्ति की वर्तमान वस्तु-स्थिति के चित्रण से आरम्भ करके उसकी बुद्धिगम्य अनुभूतियों के सहारे अवस्थातीत जीवन की ओर अग्रसर होने की बहुत ही स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक

युक्तियाँ बताई गई हैं। मानव-जीवन के सामान्य तथ्यों से तटस्थ किसी पूर्व प्रस्थापित सत्य को आधार बनाकर इस दर्शन का विवेचन आरम्भ नहीं हुआ है। व्यक्ति के जीवन की कठिनाइयों, उसकी आवश्यकताओं एवं उसके दायित्व का स्पष्ट विवेचन अर्थात् व्यक्ति की वर्तमान वस्तु-स्थिति का समुचित परिचय इस दर्शन की भूमि है। यह दर्शन व्यक्ति की अभावयुक्त दशा से आरम्भ होता है और पूर्ण जीवन से अभिन्नता में पूर्ण होता है। इस प्रकार इस दर्शन में जीवन ओत-प्रोत है।

(२) चूँकि मानव-दर्शन में मानव-जीवन को परिप्रेक्ष्यों में (in all perspectives) देखने की दृष्टि प्रस्तुत है। इसलिये इसमें मानव-मात्र की मौलिक समस्याओं का हल ढूँढने के लिए सार्वदेशीय विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है। जीवन का कोई अंग इसमें अछूता नहीं है। भाव, विचार और क्रियाशीलता तीनों ही शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में पायी जाती हैं। व्यक्तित्व के गठन की विभिन्नता के कारण कोई व्यक्ति भावप्रधान, कोई विचारप्रधान एवं कोई क्रियाशीलताप्रधान होते हैं।

मानव-दर्शन में इस व्यक्तिगत भिन्नता (individul difference) के प्राकृतिक तथ्य को स्वीकार करते हुए विचारमार्ग, विश्वासमार्ग एवं कर्त्तव्य-पथ स्वीकार किया गया है और प्रत्येक के द्वारा वास्तविक जीवन (योग, बोध, प्रेम) से अभिन्न होने की बात दर्शायी गई है। किसी को प्रधान, किसी को गौण अथवा किसी का समर्थन एवं किसी का विरोध नहीं किया गया है। इसके अनुसार जाने हुए असत् के त्याग से विचारवान को जिस वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है, माने हुए सत्य में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता

स्वीकार करने से आस्थावान को भी उसी जीवन की प्राप्ति होती है तथा मिले हुए के सदुपयोग द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठ को भी वही जीवन उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, भाव, विचार और क्रियाशीलता तीनों ही पहलुओं का सुन्दर समन्वय आस्तिकवाद, अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद की दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मानव-दर्शन समग्र जीवन के लिए प्रकाश प्रदान करता है और मानव-मात्र के विकास का पथ दर्शाता है।

(३) इसकी तीसरी मौलिकता यह है कि यह कर्त्तव्य-विज्ञान अर्थात् धर्म-विज्ञान की परावधि योग-विज्ञान में, योग-विज्ञान की परिसमाप्ति अध्यात्म-विज्ञान में और अध्यात्म-विज्ञान की परिणति आस्तिक विज्ञान में दिखाता है। दुःख की निवृत्ति इनमें से किसी भी विज्ञान से हो सकती है। दुःख-निवृत्ति की शान्ति में जो रमण नहीं करते और असंगता से प्राप्त स्वाधीनता में जो सन्तुष्ट नहीं होते वे नित-नव-अगाध-अनन्त प्रियता से अभिन्न होकर कृत-कृत्य हो जाते हैं। मानव-दर्शन में सम्पादित भौतिक-वाद, अध्यात्मवाद और आस्तिक-वाद का यह अभिनय समन्वय विचार की जिस उच्च भूमिका से किया है वह सर्वथा मौलिक है।

(४) 'मैं' क्या है? इसका विवेचन भी मानव-दर्शन में नवीन ढंग से हुआ है। 'मानव' ब्रह्म अथवा आत्मा नहीं है और न वह शरीर ही है। वह कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुञ्ज है। भोग की रुचि का अभाव होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की जाग्रति स्वतः होती है और फिर मानव अपने अस्तित्व में शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम को ही पाता है। शान्ति में रमण एवं स्वाधीनता की सन्तुष्टि अहम् के अस्तित्व को

जीवित रखती है। किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी के अहम्भाव को प्रेम से अभिन्न कर देती है, अर्थात् प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई अस्तित्व नहीं रहता अथवा यों कहो कि प्रेम के प्रादुर्भाव में अहम् की गन्ध भी नहीं रहती। प्रेम जिसमें अभिव्यक्त होता है उसको खाकर जिसके प्रति होता है उसको नित-नव रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से मानव का अस्तित्व प्रेम और प्रेमास्पद का नित-नव विहार ही है।

प्रेमास्पद ने मानव का निर्माण अपने में से ही अपने ही लिए किया है। इस कारण उसे इतना सुन्दर बनाया है कि वह निर्ममता से उदित निर्विकारता के सौन्दर्य तथा निष्कामता से प्राप्त ऐश्वर्य एवं आत्मीयता से उदित माधुर्य से परिपूर्ण है। मानव अपने रचयिता की ही जाति का है। इतना ही नहीं, स्वरूप से भी अभिन्न है। केवल अपने आश्रय तथा प्रकाशक को नित-नव रस देने में ही उसकी पूर्णता है।

(५) मानव-दर्शन ने हमें एक और नूतन बात यह बतायी है कि प्रत्येक कर्म भाव में और लक्ष्य में विलीन होने से मानव का उत्तरोत्तर विकास ही होता है, पर भाव यदि कर्म में लीन हो जाये तो कर्म अन्त में अपना फल देकर अभाव में ही आबद्ध कर देता है, जो असमर्थता और पराधीनता की भूमि है। इस कारण प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म पवित्र भाव से तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर ही करना है। ऐसा करने से कर्म भाव में तथा भाव लक्ष्य में विलीन होता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इतना ही नहीं, 'करना' 'होने' में विलीन होकर 'है' से अभिन्न हो जाता है अर्थात् कर्म के भाव में लीन होने से सृजनात्मक प्रतिभा और शक्ति का विकास स्वाभाविक रूप से होता है और भाव प्रीति में या 'होने' का 'है' में लीन होना जीवन की पूर्णता है, जिसमें रस का वारापार नहीं है।

(६) परम-तत्व की नित-नव-अगाध अनन्त प्रियता को मानव-दर्शन में साधन-तत्व कहा गया है। यद्यपि साधन-तत्व साध्य का ही स्वभाव है किन्तु मानव की अभिन्नता साधन-तत्व से ही होती है। साधन-तत्व साध्य के ही समान अनन्त, नित्य, चिन्मय है जो मानव का जीवन है। इस दृष्टि के मानव-जीवन की पूर्णता मानव-दर्शन में साधन-तत्व से अभिन्न होने में ही बतायी गई है। मानव विकास की परावधि साध्य को रस देने में ही निहित है। साध्य की अगाध, अनन्त प्रियता से भिन्न साधन-तत्व का और कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार ही साधन-तत्व और साध्य का स्वरूप है।

(७) जहाँ तक पथ विवेचन का प्रश्न है, इस दर्शन की एक मौलिक देन यह भी है कि विचार और विश्वास, तर्क और श्रद्धा, खोज और आस्था को भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र पथ माना गया है। परिचय के प्रारम्भ में ही इसका स्पष्ट उल्लेख किया जा चुका है। इस दर्शन के अनुसार 'दर्शन' एक खोज है जिसमें पहले से कुछ मानकर चलना बौद्धिक ईमानदारी नहीं है। तर्क में श्रद्धा का मेल दर्शन को रूढ़िवाद या वितण्डावाद (Scholasticism) में बदल देता है। यह Scholasticism माने हुए सत्य को बौद्धिक रूप में सही सिद्ध करने का प्रयास है। मानव-दर्शन इस दोष से रहित है। इस प्रकार दार्शनिक रचना को यह एक नई दिशा प्रदान करता है।

(८) इस दर्शन में विभिन्न दर्शनों के विशिष्ट सिद्धान्तों की सीमा को पार कर सभी सिद्धान्तों की अन्तिम परिणति के रूप में 'नित्यजीवन' 'नित्य जाग्रति' एवं 'नित-नव-अगाध-अनन्त प्रियता' को ही लक्ष्य बताया गया है, जो मानव-मात्र की माँग

है और जिसकी प्राप्ति में मानव-मात्र स्वाधीन है। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन न करते हुए सभी सिद्धान्तों के दृष्टिकोणों का भेद मिट गया है, क्योंकि सभी में जीवन की विशिष्टता की बातें हैं जो कि मानव-दर्शन की पूर्णता में समाहित हो गई हैं। अतः मानव-दर्शन एक अनुसन्धान है जिसमें जीवन की एकता के मूल तथ्य को लेकर दर्शन की एकता स्थापित की गई है।

(९) मानव-दर्शन वह दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा व्यक्तिगत जीवन में क्रान्ति, अर्थात् समस्त जीवन में दिव्य रूपान्तर लाया जा सकता है। लेकिन इस क्रान्ति या दिव्य रूपान्तर के लिए मानव-दर्शन की मौलिक दृष्टि में पराधीनता या पराश्रय नहीं है। स्वाधीनता की प्राप्ति के साधन में भी स्वाधीनता ही है। आवश्यकता के अनुभव की उत्कटता ही आवश्यकता-पूर्ति का अचूक सर्वोत्तम उपाय है। मानव-दर्शन व्यक्तिगत जीवन की विफलता और सामाजिक जीवन के संघर्ष दोनों के निराकरण में समान रूप से उपयोगी है। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण मानव-दर्शन को अपनाने से सहज हो जाता है। मानव-दर्शन किसी अन्य दर्शन का विरोधी नहीं है क्योंकि इसकी दृष्टि में अन्य का मत आदरणीय और अपना ही मत अनुसरणीय है।

मानव-दर्शन इस प्रकार एक क्रान्तिकारी, सर्व हितकारी विचारधारा का आविर्भाव है जो अपनी अभिव्यक्ति एवं approach में सर्वथा मौलिक है।



विनीता—

देवकी

मानव जीवन की समस्या, मानव-दर्शन का महत्व

प्रत्येक मानव में तीन बातें हैं, जानना, मानना और करना। जब तक इन तीनों में सामञ्जस्य रहता है तब तक मानव उत्तरोत्तर विकास की ओर बढ़ता रहता है। जब इस सामञ्जस्य में असंतुलन आ जाता है तब मानव पराधीनता, अभाव आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि मानव अपने जाने हुए का आदर करे। जाने हुए के प्रभाव से ही किए हुए के प्रभाव का नाश होता है, जिसके होते ही करने का राग मिट जाता है। राग-रहित होते ही सेवा, त्याग, प्रेम आदि दिव्यता की जीवन में अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो मानव निज विवेक का आदर नहीं कर सकता वह सद्ग्रन्थों एवं गुरुजनों से प्राप्त प्रकाश का भी आदर नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक मानव को निज विवेक का आदर करना अनिवार्य है।

सुने हुए में आस्था होती है और जाने हुए का अनुभव होता है। अनुभव विकल्प-रहित होता है। देखे हुए में, अर्थात् प्रतीति में ममता, कामना एवं तादात्म्य होता है। इस दृष्टि से देखे हुए में और जाने हुए में बड़ा भेद है। जाना हुआ दर्शन है, देखा हुआ नहीं।

मानव जो भी जानता है उसका यदि अनादर न करे तो वह

ममता, कामना और तादात्म्य से रहित हो सकता है। ममता, कामना और तादात्म्य के रहते हुए किसी भी मानव को निर्विकारता, परमशान्ति तथा अपरिच्छिन्नता प्राप्त नहीं होती और इनके प्राप्त बिना हुए अभाव सम्भव नहीं है। इस कारण मानव को अपने दर्शन में अविचल आस्था करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि मानव का अपना दर्शन क्या है? दर्शन का अर्थ है जानना, अर्थात् हम जो जानते हैं। इसके लिए किसी अन्य के सहयोग की अपेक्षा न होगी, अपितु अपने ही द्वारा अपनी जानकारी का अनुभव करना होगा। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपना अनुभव और अपनी जानकारी भिन्न-भिन्न वस्तु हैं? कदापि नहीं। तो फिर अपनी जानकारी के अनुभव का अर्थ क्या होगा? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जाने हुए का सुने हुए अथवा किए हुए के आधार पर अनादर न करें। यही अपनी जानकारी का अनुभव है। जिस प्रकार यह सभी को मान्य है कि जिस किसी के पास जो कुछ वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के रूप में प्राप्त है वह उसका अपना व्यक्तिगत नहीं है, फिर भी मिले हुए में ममता कर लेना अपनी जानकारी का अनादर करना है। जानकारी का अनादर करने से जानकारी का प्रभाव अपने पर नहीं रहता। जब जाने हुए का प्रभाव नहीं रहता, तब भूलजनित अनेकों दोष उत्पन्न होते हैं। उन दोषों का अन्त करने के लिए प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए आदर करना अनिवार्य है। देखे हुए और जाने हुए में एक बड़ा भेद है। देखना किसी करण की अपेक्षा से होता है, पर जानना किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु अपने ही द्वारा स्वयं जाना जाता है।

प्रत्येक मानव को वह प्रकाश प्राप्त है जिसके आश्रित वह

इन्द्रिय-दृष्टि से देखता है। देखना प्रवृत्ति है। जानना प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु मानव प्रमादवश देखने और जानने को समान मान लेता है। 'देखा हुआ जाना हुआ है' यह निर्विवाद नहीं है। जो वस्तु जैसी दिखाई देती है वह वैसी ही है, यह स्वीकार करना भूल है। इस कारण प्रत्येक मानव को इस गम्भीर समस्या पर विचार करना होगा कि वह जानता क्या है और देखता क्या है? उस पर देखे हुए का प्रभाव है अथवा जाने हुए का? जब तक जीवन में देखे हुए का प्रभाव रहता है तब तक वह स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, चेतना से जड़ता की ओर एवं असीम से सीमित की ओर गतिशील रहता है। परन्तु ज्यों-ज्यों जाने हुए का प्रभाव स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों देखे हुए का प्रभाव मिटता जाता है। सर्वांश में देखे हुए का प्रभाव मिटते ही स्वतः प्रत्येक मानव स्वाधीन, चिन्मय एवं असीम जीवन से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक मानव जब तक निज दर्शन, अर्थात् अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं होगा तब तक वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं होगी। अतः मानव-दर्शन के अपनाने में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

मानव-दर्शन की आवश्यकता

प्रत्येक मानव का अपना एक स्वतन्त्र दर्शन है। परन्तु दार्शनिकों के दृष्टिकोण को अपनाना आस्था है, दर्शन नहीं। आस्था विकल्प रहित होने से दर्शन के समान ही प्रतीत होती है, यद्यपि वह दर्शन नहीं होती। दर्शन में आस्था की अपेक्षा नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब प्रत्येक मानव अपने दर्शन का आदर पूर्वक अनुसरण करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों का दर्शन, दर्शन नहीं है। दर्शन तो अनेक हैं, पर

जीवन एक है, अर्थात् एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेकों दृष्टिकोण हैं। लक्ष्य की एकता से सभी दार्शनिक एक हैं, किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन रूप दर्शन भिन्न-भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न दर्शन होने पर भी उनका मूल प्रकाशक एक है। देखे हुए का निर्णय देखने की शक्ति के द्वारा नहीं होता, अपितु उसी प्राप्त प्रकाश के द्वारा होता है जिसकी सत्ता से देखने की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। प्रत्येक मानव को मुख्यतः दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं। इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि। दृष्टि दो हैं और दृश्य एक है। जिसमें देखने की रुचि है वही मानव है और जिसके प्रकाश में देखता है वही समस्त दर्शनों का आधार है, आश्रय है। देखने का प्रभाव उसी पर होता है जिसमें देखने की रुचि है। देखने की रुचि प्रकाशक में नहीं होती, अपितु उसी में होती है जो अपने में इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि को आरोपित करता है। जिसने दृष्टियों को अपनाया है, उसी में देखने की रुचि है और वही मानव का अस्तित्व है। जो प्रकाश दृष्टियों को सत्ता देता है उसी प्रकाश से दृश्य भी सत्ता पाता है। दृश्य और देखने की शक्ति तथा देखने का भोक्ता इन तीनों में गुणोंकी भिन्नता भले ही हो, पर जातीय एकता है; कारण, कि जातीय एकता के बिना देखने की रुचि, देखने की सामर्थ्य तथा देखने की प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती।

इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव देखने की रुचि को पोषित करता है, अर्थात् अनेक बार देखने पर भी देखने का राग नष्ट नहीं होता परन्तु बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नष्ट कर देता है। और फिर देखने की रुचि जिज्ञासा के रूप में परिणत हो जाती है। जो देखता था, वह अब जिज्ञासु होने से, देखे हुए की वास्तविकता का अनुभव करने के लिए तत्पर होता है। जिज्ञासा देखने की रुचि का अन्त कर स्वतः पूरी हो जाती है,

अर्थात् राग-रहित होते ही देखे हुए की वास्तविकता का बोध स्वतः हो जाता है जो वास्तविक दर्शन है। जिसके होते ही देखे हुए की ममता, कामना तथा उसके तादात्म्य का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही निर्विकारता, परमशान्ति एवं असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय-जीवन से अभिन्नता स्वतः होती है। जो मानव मात्र का अपना लक्ष्य है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु दृष्टियों के द्वारा जिस दर्शन की अनुभूति होती है, वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण होने से साधन रूपता है पर वास्तविक दर्शन नहीं है। वास्तविक दर्शन की प्राप्ति होती है; और साधन रूप दर्शन का वर्णन होता है। इस कारण सभी दार्शनिकों के दर्शन का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को अपने दर्शन का अनुसरण करना है।

जब तक मानव देखे हुए का सुख भोगता रहता है तब तक उसमें जिज्ञासा उदित नहीं होती। देखे हुए के परिणाम का प्रभाव होने पर देखने की रुचि शिथिल हो जाती है। जिसके होते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा के सबल तथा स्थायी होने से देखने की कामना और देखे हुए दृश्य की ममता का नाश हो जाता है। कामना का नाश होते ही परम-शान्ति और ममता का अन्त होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है; और फिर स्वतः विचार का उदय होता है जो दृश्य की वास्तविकता का बोध करानेमें समर्थ है। बस, यही विचार-पथ है।

किसी का बोध किसी की आस्था भले ही हो, पर बोध में आस्था और आस्था में बोध को सम्मिलित करना जिज्ञासा और आस्था को दूषित करना है। जिज्ञासा की जाग्रति, सन्देह की वेदना में निहित है। सन्देह-काल में आस्था का भार जिज्ञासु पर लाद देना जिज्ञासा को निर्जीव बनाना है। सन्देह रहते हुए

आस्था सजीव नहीं होती और जिज्ञासु को आस्था में आबद्ध करने का प्रयास करना जिज्ञासु के लिए हितकर नहीं है। उसी प्रकार आस्था में विचार लगाना विश्वास-पथ के साधक के साथ घोर अन्याय है। अत: सन्देह की वेदना के आधार पर जिज्ञासु में तीव्र जिज्ञासा जगने दो, तभी वह अपने दर्शन द्वारा वास्तविक दर्शन से अभिन्न हो कृतकृत्य हो सकेगा। जिज्ञासा सदैव देखे हुए के प्रति होती है और आस्था उसमें हो सकती है जिसको इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा है, अपितु आस्थावान् महापुरुषों से सुना है। सुने हुए में आत्मीयता हो सकती है। उस पर विचार नहीं किया जा सकता। विचार तो अपने पर अथवा अपने देखे हुए पर ही हो सकता है; कारण, कि बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि को बुद्धि-ज्ञान तथा इन्द्रिय-ज्ञान भी कहते हैं, जो अल्प ज्ञान है। अल्पज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञान को ज्ञान मान लेने से, देखे हुए का प्रभाव अङ्कित हो जाता है जो वास्तविकता से विमुख करने में हेतु है। इस दृष्टि से दृष्टि और प्रकाश में भेद स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रकाश जिसका है उसमें तो आस्था हो सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। अतः मानव प्राप्त प्रकाश के द्वारा देखे हुए पर विचार करे। देखे हुए पर विचार करने से दृश्य की वास्तविकता का बोध होगा, जिसके होते ही देखने की रुचि नाश होगी और फिर दृष्टियाँ अपने उद्गम में विलीन होंगीं। दृष्टियों के विलीन होते ही देखने का राग जिसमें था, वह और दृष्टि एवं दृश्य, ये तीनों ही अपने आश्रय में विलीन होकर प्राप्त प्रकाश के द्वारा उस प्रकाशक से अभिन्न हो जायेंगे। फिर स्वत: वास्तविक दर्शन की अभिव्यक्ति होगी जो निस्सन्देहता

प्रदान करने में समर्थ हैं। निस्सन्देहता और आस्था इन दोनों का स्वरूप एक है। जिज्ञासु सन्देह रहित होकर, आस्थावान् होता है और विश्वासी विश्वासपात्र की प्रीति होकर, निस्सन्देह होता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक मानव में किसी न किसी रूप में, किसी न किसी के प्रति आस्था भी होती है। मानव-जीवन में जाने हुए के समान ही आस्था का भी स्थान है, पर विवेक विरोधी आस्था सर्वथा त्याज्य है। यह आवश्यक नहीं है कि आस्था विवेक से समर्थित हो, पर यह आवश्यक है कि आस्था में विवेक का विरोध न हो। विवेक-विरोधी आस्था देखे हुए में ममता, कामना तथा तादात्म्य उत्पन्न करती है जो सर्वदा अहितकर है। आस्था वही साधन रूप है जो किसी दृष्टि का आश्रय नहीं रखती, अपितु किसी आस्थावान् की देन है। अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। बिना देखे की आत्मीयता, देखे हुए की ममता का नाश कर, आस्थावान् को प्रियता प्रदान करती है। प्रियता स्वभाव से ही रस-रूप होने से नीरसता का सर्वांश में अन्त करने में समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही, निष्कामता, निर्ममता स्वत: जाग्रत होती है। कारण, कि समस्त कामनाओं का उद्‌गम नीरसता में ही है। इस दृष्टि से प्रियता के जाग्रत होने पर भी देखे हुए का प्रभाव सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही अनेकता एकता में, भिन्नता अभिन्नता में विलीन हो जाती है और फिर आस्था-पथ का पथिक भी उसी परम-तत्व को प्राप्त होता है, जिसे जिज्ञासु ने विचार-पथ से प्राप्त किया था। जिज्ञासा और आस्था का फल समान होने पर भी जिज्ञासा में आस्था को और आस्था में जिज्ञासा को मिलाने से न तो तीव्र जिज्ञासा ही होती

है और न अविचल आस्था ही। तीव्र जिज्ञासा के बिना निष्कामता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना जिसमें देखने की रुचि है, उसमें तथा दृष्टि एवं दृश्य इन तीनों में एकता नहीं होती, जिसके बिना हुए, समता नहीं आती। समता के बिना, योग तथा बोध की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण जिज्ञासा में आस्था मिलाना भूल है। निस्सन्देहता की माँग और सन्देह की वेदना से ही जिज्ञासा तीव्र होती है। तीव्र जिज्ञासा स्वतः कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं की निवृत्ति और विचार का उदय युग-पद् हैं। विचार का उदय होते ही स्वतः बोध होता है जो वास्तविक दर्शन है।

अविचल आस्था निस्सन्देहता से ही पुष्ट होती है। निस्सन्देहता में सन्देह को जगाने का प्रयास आस्था में विकल्प करना है। आस्था सदैव बिना देखे में होती है। जो दृष्टिगोचर नहीं हुआ उस पर विचार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आस्था करे अथवा न करे, इसमें मानव स्वाधीन है पर आस्था में विकल्प करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विकल्प-रहित आस्था ही श्रद्धा, विश्वास की जननी है। श्रद्धा, विश्वास से ही आत्मीयता जाग्रत होती है। अतः आस्था में सन्देह करना आस्था को निर्जीव बनाना है। इस दृष्टि से जिज्ञासा और आस्था दोनों ही स्वतन्त्र पथ हैं। देखे हुए पर विचार और बिना देखे पर आस्था हो सकती है। देखे हुए में विश्वास और बिना देखे हुए पर विचार करना विश्वास और विचार का दुरुपयोग है।

प्रतीति जिसमें है, जिसकी है और जिसके द्वारा है—इन तीनों में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। यदि ऐसा न होता तो जो प्रतीति-कर्ता है उसकी

प्रतीति में ममता तथा कामना न होती। कामना जिसकी है वह, और जिसमें वह है, इन दोनों में किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता है। यह सभी को विदित है कि सभी कामनायें किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुईं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कामना की पूर्ति कामना के आधीन नहीं है, अपितु किसी विधान के आधीन है। इतना ही नहीं, कामना-अपूर्ति और पूर्ति इन दोनों का परिणाम भी एक ही है। कामना-अपूर्तिकाल में जो पराधीनता भासती है वही पराधीनता कामना-पूर्तिकाल में भी, ज्यों की त्यों रहती है। अतः कामना-पूर्ति, अपूर्ति का परिणाम समान है। किन्तु कामना-पूर्ति को महत्व देना और अपूर्ति से क्षुब्ध होना पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जीवित रखना है, जो वास्तव में भूल है। **दर्शन से भूल का नाश होता है, वस्तुस्थिति का नहीं।** भूल का नाश होते ही स्वतः सजगता प्राप्त होती है जो विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुस्थिति सतत् परिवर्तनशील है। उत्पत्ति और विनाश का क्रम ही स्थिति के रूप में प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा हुआ वैसा नहीं है जैसा दिखाई देता है। देखे हुए में सन्देह होते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है जो दर्शन का मूल है।

देखे हुए का स्वतंत्र अस्तित्व न होने पर भी देखे हुए का उपयोग करने की रुचि मानव में विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति होने पर ही करने का राग नाश होता है जिसके होते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और स्वभाव से ही कर्त्तव्य-परायणता आजाती है जिसके आते ही मिले हुए का सदुपयोग और पारस्परिक एकता तथा स्नेह सुरक्षित रहता है जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए उसके करने की

अभिरुचि भी मानव में विद्यमान है। अब विचार यह करना है कि करना क्या है ? सामर्थ्य और विवेक जिस कार्य के समर्थक हैं, वही करना है। सामर्थ्य-विरोधी कार्य कोई कर नहीं सकता और विवेक विरोधी कार्य मानव को करना नहीं चाहिए। जो नहीं कर सकते उसके, और जो नहीं करना चाहिए उसके, न करने से जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता सहज तथा स्वाभाविक है।

मानव-दर्शन के आधार पर जानना, मानना तथा करना— इन तीनों का उपयोग वास्तविक जीवन की प्राप्ति में ही है। जाने हुए का प्रभाव और मिले हुए का सदुपयोग तथा जिसे देखा नहीं है उसकी आस्था प्रत्येक मानव के लिए साधन रूप है। इनमें से किसी एक को अपना लेने पर क्रमशः सभी स्वतः आजाते हैं; कारण, कि जीवन एक है। परिस्थिति-भेद से इनमें से किसी एक को अपनाना आवश्यक है। किसको क्या अपनाना है, इसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता है। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अनुसरण करने पर सभी साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से साधन अनेक और साध्य एक है। प्रत्येक मानव, साधक है। साधक होने से उसका कोई साध्य है और उस पर कोई दायित्व है। दायित्व को पूरा करने पर साध्य से अभिन्नता होती है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व वही है जो स्वाधीनता पूर्वक पूरा किया जा सकता है। दायित्व को पूरा करने में कोई असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने दर्शन को आदर पूर्वक अपनाये। जानने, मानने तथा करने की शक्ति साधन-सामग्री है, समष्टि शक्तियों से निर्मित है, व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। परन्तु उसके सदुपयोग में मानव का अधिकार है, उसकी ममता में नहीं। ममता तादात्म्य को जन्म

देती है और सदुपयोग से स्वतः असङ्गता प्राप्त होती है। तादात्म्य परिच्छिन्नता, जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करता है और असङ्गता असीम, अनन्त तथा चिन्मय-जीवन से से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से तादात्म्य का नाश तथा असङ्गता की अभिव्यक्ति वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

मानव-दर्शन की आवश्यकता इसलिए है कि मानव मिले हुए में ममता न करे और न उसका दुरुपयोग ही। निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान है। कर्त्तव्यपरायणता योग-विज्ञान की जननी है। योग-विज्ञान सामर्थ्य का स्रोत है। सामर्थ्य से ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता स्वतः चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्मम होते ही निष्कामता का प्रादुर्भाव होता है। निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से परम-शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। निर्विकारता एवं शान्ति में रमण न करने से असङ्गता-पूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। जब मानव को प्राप्त स्वाधीनता भी सन्तुष्ट नहीं कर पाती तब उसकी अहैतुकी कृपा से, जिसे देखा नहीं है, स्वतः प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम, ये सब एक ही धातु से निर्मित हैं अर्थात् इन सब का आश्रय और प्रकाशक कोई एक ही है। उसी में अविचल आस्था होती है।

यह सभी को मान्य होगा कि जाने हुए का प्रभाव ही मिले हुए की ममता के त्याग में हेतु है। निर्मम होने पर ही निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निष्कामता से ही परम-शान्ति

और शान्ति में रमण न करने से असङ्गता-पूर्वक स्वाधीनता की प्राप्ति होती है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न रहने से अगाध, अनन्त, नित-नव-प्रियता उदित होती है। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव ही समस्त साधनों की भूमि है।

जिसने अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, मानव-जीवन का निर्माण किया है उसने आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु ऐसे अनुपम ढङ्ग से प्रदान की है कि मिला हुआ मानव को अपना ही मालूम होता है। यद्यपि कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, परन्तु उस दाता की यह महिमा है कि मिला हुआ अपना जैसा ही लगता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मिले हुए में ममता की जाय, उसका सदुपयोग न किया जाय और दाता की अनुपम उदारता का आदर न किया जाय। जिसने सब कुछ दिया है, उसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। इस दृष्टि से आस्था बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर उसका उपयोग देखी हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में करना भूल है। परिस्थिति आदि में आस्था करने से परिस्थितियों से तादात्म्य हो जायेगा जो विनाश का मूल है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आस्था एकमात्र उसी में करनी है जिसे देखा नहीं है। अतः जाने हुए का प्रभाव, मिले हुए का निर्ममता तथा निष्कामता पूर्वक सदुपयोग एवं उसमें आस्था, जिसे देखा नहीं है, मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव निज-दर्शन में विकल्प न करे।

स्वभाव से ही प्रत्येक मानव में करने, जानने तथा मानने की माँग है और किसी न किसी रूप में जानते, मानते तथा करते भी हैं। किन्तु विचार यह करना है कि जो जानना चाहिये वही

जानते हैं, जो मानना चाहिये वही मानते हैं और जो करना चाहिये वही करते हैं क्या ? यदि वही जानते, मानते, और करते हैं तो फिर मानव-जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहना चाहिये। परन्तु वर्तमान वस्तुस्थिति में अभाव है। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक मानव अपने ही द्वारा इस बात का अनुभव करे कि वह क्या जानता, मानता तथा करता है, अर्थात् अपना निरीक्षण करने पर ही मानव को मानव-दर्शन का स्पष्ट बोध होगा, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमता पूर्वक वास्तविक-जीवन की प्राप्ति होगी, यह निर्विवाद है; कारण कि मानव-जीवन का जो उद्देश्य है, उसकी पूर्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता एक-मात्र तभी तक जीवित है जब तक मानव मानव-दर्शन से अपरिचित है।

अपने को प्रतीति और स्वीकृति के रूप में भी जानते हैं। पर यह जानना मानव-दर्शन से समर्थित नहीं है, अपितु इन्द्रियों के द्वारा जो सुना है उसी को मान लिया है। सुना हुआ विश्वास हो सकता है, ज्ञान नहीं। अतः अपने सम्बन्ध में अपने ही द्वारा जानना, जानना होगा, सुना हुआ जानना नहीं हो सकता। अब अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा क्या जानते हैं ? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी स्वीकृति तथा प्रतीति का अर्थ 'मैं' नहीं है। समस्त प्रतीतियाँ "यह" कर के विदित होती हैं। "यह" को ही "मैं" मान लेना जानना नहीं है अपितु भूल है। इस भूल को भूल न मानने पर शरीर में अहम्-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, जिसके उत्पन्न होते ही अनेकों विकार उत्पन्न होते हैं जिनके होते ही अनेक प्रकार की पराधीनताओं, जड़ता और अभाव में मानव आबद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा

अभाव आदि की वेदना इस भूल को मिटाने की प्रेरणा देती है, और फिर मानव प्राप्त प्रकाश में जब अपने सम्बन्ध में खोज करता है तब उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि प्रतीति 'मैं' नहीं हूँ, अर्थात् शरीर 'मैं' नहीं हूँ। शरीर में अहम्-बुद्धि रहती है तब मम्बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह जानना भी भूल से रहित नहीं है; कारण, कि शरीर सृष्टि रूपी सागर की एक बूँद के तुल्य है। जब सागर व्यक्तिगत नहीं है तो भला उसकी बूँद अपनी कैसे हो सकती है ? अतः शरीर की ममता भी भूल ही है। इस भूल को, भूल जानते ही यह स्वतः अनुभव होता है कि न तो शरीर 'मैं' हूँ, और न वह मेरा है। इस अनु-भव से यह तो स्पष्ट नहीं होता कि 'मैं' क्या हूँ ? यही विदित होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ और वह मेरा नहीं है केवल भूल से ही शरीर में अहम् तथा मम्-बुद्धि उत्पन्न हो गई है।

प्राकृतिक नियमानुसार उत्पत्ति का विनाश अपने आप होता है। और भूल को भूल जान लेने पर भूल सदैव के लिए नाश हो जाती है। इस भूल के नाश होते ही निष्कामता, निर्विकारता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही वह विचार स्वतः जाग्रत होता है जो अविचार का अन्त कर मानव को वास्तविकता से अभिन्न कर देता है, अतः यह समस्या हल हो जाती है कि 'मैं' मानव-दर्शन की दृष्टि से क्या है। उसका वर्णन एक-मात्र संकेत-भाषा से ही सम्भव है। कारण, कि जिन करणों के द्वारा वर्णन किया जाता है वे 'यह' के ही रूप हैं। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता होने पर 'यह' के द्वारा 'मैं' का स्पष्ट वर्णन सम्भव नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने को अपना बोध नहीं होता। बोध होता है, पर वर्णन संकेत-मात्र

ही सम्भव है। इस दृष्टि से, 'मैं' की वास्तविकता का बोध स्वयं द्वारा स्वयं को ही होता है।

जिस प्रकार प्रतीति 'मैं' से भिन्न है उसी प्रकार समस्त स्वीकृतियाँ भी 'मैं' से भिन्न हैं, कारण, कि 'मैं' एक और स्वीकृतियाँ अनेक, अर्थात् एक ही 'मैं' में अनेक स्वीकृतियों का आरोप है और प्रत्येक स्वीकृति किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है, अर्थात् स्वीकृति के अनुरूप कुछ न कुछ करने की बात उत्पन्न होती है, यद्यपि करने का सम्बन्ध सदैव 'पर' के प्रति है 'स्व' के नहीं। इस दृष्टि से स्वीकृति स्वरूप नहीं है, अपितु मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के उपयोग का प्रतीक-मात्र है। जो 'मैं' नहीं है, 'मेरा' नहीं है उसी का उपयोग विश्व के प्रति करने के लिए स्वीकृति एक प्रतीक-मात्र है। यह नियम है कि पवित्रता पूर्वक स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर स्वीकृति प्रवृत्ति होकर 'पर' की सेवा में विलीन हो जाती है। अतः स्वीकृतियों को भी 'मैं' मानना भूल ही है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव करने के राग, पाने के लालच और जीने की आशा से रहित हो जाता है; कारण, कि पाने के प्रलोभन में पराधीनता की व्यथा और जीने के प्रलोभन में मृत्यु का भय तथा करने के राग में श्रमित होकर असमर्थ होने की वेदना सतत् विद्यमान रहती है, जो मानव की माँग नहीं है। इस कारण सजगता पूर्वक कर्तव्यपरायणता द्वारा करने के राग से और निष्कामता पूर्वक पाने के प्रलोभन से तथा देहाभिमान से रहित होकर मृत्यु के भय से मुक्त होना अनिवार्य हो जाता है।

प्रतीति तथा स्वीकृतियों से रहित जो है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं, अर्थात् वह निर्विकार है। निर्विकारता मानव की माँग है। अतः अपने द्वारा अपनी खोज करने पर निर्विकारता

से अभिन्नता स्वतः हो जाती है और 'मैं' का अस्तित्व एक-मात्र उसी का प्रेम हो जाता है। 'प्रेम', 'प्रेमास्पद' से विभाजित नहीं होता। प्रेम स्वभाव से ही क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है और सदा उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। इतना ही नहीं, प्रेम, प्रेमास्पद के तुल्य अनन्त ही है।

'मैं' की खोज करते-करते जिससे अभिन्नता हुई, वास्तव में वही आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पात्र है। पर मानव उसमें आस्था न करके प्रतीति और स्वीकृतियों में आस्था कर बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति के अनुरूप प्रवृत्ति होती है, पर प्राप्ति नहीं होती और स्वीकृति का भास तो होता है, पर बोध नहीं होता। जो प्राप्ति तथा बोध से रहित है उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भूल का अन्त किये बिना मानव न तो जाने हुए का आदर ही कर पाता है और न उसकी श्रद्धास्पद में श्रद्धा ही होती है। जाने हुए का अनादर करने से अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों की उत्पत्ति होती है और श्रद्धास्पद में श्रद्धा न होने से ममता, कामना तथा तादात्म्य की उत्पत्ति हो जाती है जो विनाश का मूल है।

जाने हुए का आदर किये बिना मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव नहीं है; कारण, कि जो सामग्री विश्व की सेवा के लिए मिली थी, जाने हुए का अनादर करने पर, उस सामग्री के द्वारा मानव अपना सुख-सम्पादन करने लगता है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है, परन्तु जाने हुए के अनादर से सेवा को त्याग, मानव सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है जो दुःख का मूल है। अतः मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का

निर्ममता, निष्कामता पूर्वक विश्व-सेवा में व्यय करना अनिवार्य है, कारण, कि शरीर आदि वस्तुओं की विश्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं का उपयोग एक मात्र 'पर-सेवा' में है। जब मानव मानव-दर्शन को अपनाता है तब स्वार्थ भाव 'पर-सेवा' में विलीन हो जाता है और फिर यह भूल नहीं रहती कि वह किया जो नहीं करना था, अपितु वही किया जो करना चाहिये। अर्थात् अकर्तव्य को त्याग, कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होने पर मानव करने के राग से रहित हो जाता है और स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। इस दृष्टि से जो नहीं करना चाहिए उसके न करने में ही जो करना चाहिए वह निहित है। कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्यपरायणता जाने हुए के आदर में ही निहित है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानव- मात्र के लिए हितकर है, अर्थात् जाने हुए के अनुरूप प्रवृत्ति ही सहज निवृत्ति की जननी है। सहज-निवृत्ति मानव को योग से अभिन्न कर देती है। कर्तव्यपरायणता की परावधि कर्त्ता को योग से अभिन्न करती है। योग का सम्पादन होने पर पराधीनता, स्वाधीनता में विलीन होती है। पराधीनता का सर्वांश में अन्त होने पर स्वतः चिन्मय-नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है।

जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा नहीं होती और पूरी जानकारी होने पर भी जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा सदैव अधूरी जानकारी में होती है। अधूरी जानकारी अल्पज्ञान है और उसी को अज्ञान कहते हैं, अर्थात् करण-सापेक्ष अनुभूति अल्प-ज्ञान है अथवा यों कहो कि देखे हुए को ज्ञान मानना अल्प-ज्ञान है। जगत् की प्रतीति और अपनेपन का भास प्रत्येक मानव में स्वभाव से है। किन्तु जगत् की

जैसी प्रतीति है क्या वही जगत की वास्तविकता है ? यदि है तो अल्प-ज्ञान कैसा ? यदि नहीं है तो उसे अज्ञान के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ? उसी अज्ञान से जिज्ञासा जागृत होती है। अधूरे ज्ञान को, ज्ञान मान लेने से जिसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है उसी की कामना होती है। कामना रहते हुए इच्छित वस्तु की वास्तविकता का अनुभव नहीं होता। अतः प्रतीति की वास्तविकता अनुभव करने के लिए उससे असंग होना अनिवार्य है जो एक-मात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है। प्रतीति से असंग होने पर प्रतीति के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध नहीं होता और प्रतीति का संग करने से प्रतीति अपने पर शासन करने लगती है अर्थात् प्रतीति के प्रभाव से मानव प्रभावित हो, पराधीनता में आबद्ध हो जाता है। प्रतीति के आकर्षण ने ही पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि विकारों में आबद्ध किया है। प्रतीति का आकर्षण उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक मानव प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव नहीं करता। प्रतीति जिन करणों की अपेक्षा रखती है है वे करण भी प्रतीति के अन्तर्गत ही हैं। अतः प्रतीति के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है। इस कारण इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का ज्ञान सम्भव नहीं है। इस कारण देखना ज्ञान नहीं है। ज्ञान किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता। करण की अपेक्षा तो देखने के लिए होती है जो एक-मात्र ममता तथा कामना के रहते हुए ही रहती है।

यह सभी को विदित है कि कामना की पूर्ति और अपूर्ति दोनों ही अवस्थायें पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध रखती हैं। इस अनुभव का आदर करते ही निष्कामता स्वभाव से ही प्रिय

हो जाती है। निष्कामता को अपना लेने पर किसी भी करण की अपेक्षा नहीं रहती। अत: दोनों ही दृष्टियाँ निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर अपने मूल उद्गम में विलीन हो जाती हैं और फिर प्रतीति की वास्तविकता का बोध कराने के लिए विचार का उदय स्वत: होता है जो अविचार-जन्य अल्प-ज्ञान का अन्त कर वास्तविकता से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव कर सकता है। प्रतीति की जिज्ञासा-पूरी होने पर जिज्ञासु का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता; कारण, कि 'जिज्ञासु' 'जिज्ञासा' होकर वास्तविकता से अभिन्न हो जाता इस दृष्टि से 'यह' के ज्ञान में ही 'मैं' का ज्ञान है और 'मैं' के ज्ञान में ही 'यह' का ज्ञान है। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं है, अर्थात् जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है। 'यह' की ममता तथा कामना ने ही 'मैं' को जीवित रखा है। ममता और कामना का अन्त होते ही 'यह' और 'मैं' दोनों ही 'है' में विलीन होते हैं—जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसकी प्राप्ति है, प्रतीति नहीं। जिसकी प्रतीति है उसकी प्राप्ति नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य स्वीकार करना अभाव में भाव-बुद्धि स्थापित करना है जो भ्रम-मूलक है, अर्थात् 'नहीं' में 'है' बुद्धि स्वीकार करना, 'है' की विस्मृति और 'नहीं' की स्वीकृति को पोषित करना है। स्वीकृति-मात्र से जिसकी प्रतीति होती है वह अस्वीकृति से नहीं रहती। अस्वीकृति-मात्र से जिसकी निवृत्ति है किसी भी प्रवृत्ति से उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में प्रत्येक व्यक्ति असमर्थता

तथा अभाव का ही अनुभव करता है, किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुखासक्ति बेचारे मानव में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व को उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति-जनित आसक्ति ही प्रतीति का आकर्षण है। प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव प्रतीति के आकर्षण को नष्ट कर देता है। आकर्षण का नाश होते ही स्वत: सहज-निवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। सहज-निवृत्ति स्वत: मानव को असीम, अनन्त-नित्य-सौन्दर्य से अभिन्न करती है जो मानव की वास्तविक माँग है।

मानव-दर्शन मानव की वास्तविक माँग से निराश नहीं होने देता और न कामनाओं की आशा रहने देता है, अपितु निष्कामतापूर्वक वास्तविक माँग की पूर्ति करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को निज ज्ञान का आदर करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब देखे हुए के प्रति जिज्ञासा जाग्रत हो अर्थात् देखने और जानने का जो भेद है वह स्पष्ट विदित हो जाए।

देखा हुआ ज्ञान नहीं है, वह तो किसी राग का परिणाम है। राग-रहित हुए बिना वास्तविकता का बोध नहीं होता। अत: राग-रहित होने के लिए ही प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव और निवृत्ति की महिमा में आस्था अत्यंत आवश्यक है। ज्यों-ज्यों सहजनिवृत्ति की महिमा सबल होती जाती है त्यों-त्यों प्रवृत्ति स्वत: निवृत्ति में विलीन होती जाती है और ज्यों-ज्यों प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव होता जाता है त्यों-त्यों स्वत: सहज-निवृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है। प्रवृत्ति का महत्त्व केवल पर-सेवा में है। कोई भी प्रवृत्ति अपने लिये उपयोगी नहीं है। सेवा अनेकता में एकता का बोध कराती है और सहज-निवृत्ति

'एक ही अनेक है,' इसका परिचय देती है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही साधनरूप हैं। निर्विकल्प अवस्था सामर्थ्य की जननी है और निर्विकल्प-बोध दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ है, कारण, कि इसी अवस्था में दुःख की निवृत्ति और शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, पर यह भी अवस्था होने से पर-प्रकाश्य है। इस कारण निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओं से उत्कृष्ट होने पर भी चिन्मय नहीं है। क्रियाशीलता, जड़ता, निरर्थक-चिन्तन, सार्थक-चिन्तन आदि अवस्थाओं से निर्विकल्प अवस्था श्रेष्ठ है। निर्विकल्प अवस्था का सम्पादन होने पर विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति तथा आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अनावश्यक कार्य का त्याग और फलासक्ति-रहित आवश्यक कार्य की पूर्ति होने पर निर्विकल्प अवस्था स्वतः प्राप्त होती है। फलासक्ति के रहते हुए कर्तृत्व का अभिमान तथा करने का राग निवृत्त नहीं होता जिसके बिना निवृत्त हुए, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति नहीं होती। इस कारण मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति फलासक्ति-रहित होनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब मानव अपने लक्ष्य से अपरिचित न रहे अपितु लक्ष्य के लिए ही समस्त चेष्टाएँ करे। जब अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही लक्ष्य में विलीन होती हैं, तब प्रवृत्ति और निवृत्ति समान फलवती होती हैं। केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति का चित्र ही भिन्न होता है। वास्तविकता की दृष्टि से दोनों ही अवस्थायें हैं। अवस्थाओं का तादात्म्य परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस कारण सभी अवस्थाओं से असङ्ग होना अनिवार्य है। निर्बिकल्प अवस्था से असङ्ग होने पर ही निर्विकल्प बोध होता है, जो दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प बोध में सन्देह की उत्पत्ति नहीं होती कारण, कि

निर्विकल्प बोध में वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। बोध रहता है, बोधवान नहीं। जब तक यह भासित होता है कि मैं बोधवान हूँ, तब तक किसी-न-किसी अंश में बोध से भिन्नता है। भिन्नता भेद को पुष्ट कर परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है। निर्विकल्प बोध में ही अगाध प्रियता का प्रादुर्भाव होता है और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। प्रीति ही में प्रीतम का नित्य-वास है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सभी अवस्थाओं से अतीत, अभिमान-शून्य हो जाता है। निरभि-मानता के बिना अहम् भाव रूपी अणु का अन्त नहीं होता जिसके बिना हुए नित-नव-प्रियता जाग्रत नहीं होती। प्रियता की जाग्रति में ही रस की अभिव्यक्ति है। रस की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है, जो मानव की वास्तविक माँग है। रस और सुख में बड़ा भेद है। रस से अरुचि नहीं होती और न रस की क्षति, निवृत्ति तथा पूर्ति ही होती है, अपितु रस की नित-नव वृद्धि होती है। इस दृष्टि से रस अनन्त है। सुख के भोग में मानव श्रमित हो असमर्थता, अभाव एवं पराधीनता में आबद्ध होता है, पर रस की अभिव्यक्ति में श्रम, पराधीनता आदि की गंध भी नहीं है। रस की भूख बढ़ने पर ही सुखासक्ति का नाश होता है। सुखासक्ति का नाश होते ही रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। रस अनन्त का स्वभाव है और मानव की माँग है। रस की माँग से निराश होना घोर प्रमाद है। सुख की आशा करना भूल है। नित-नव रस की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही मानव के प्रयास की परावधि है। रस से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख से मानव की केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं; कारण, कि सुख की उत्पत्ति

दुःख तथा पराधीनता से ही होती है, जिसका मूल दुःख तथा पराधीनता है उससे जातीय एकता हो नहीं सकती। जिससे जातीय एकता नहीं है, उसकी आशा करना और जिससे जातीय एकता है उससे निराश होना, इससे बढ़कर और कोई भारी भूल नहीं है। भूल का अन्त करने के लिए ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव का निर्माण हुआ है। इस कारण सुख की आशा का त्याग तथा रस की उत्कट लालसा जाग्रत करने में ही मानव के दायित्व की परावधि है। दायित्व पूरा किये बिना माँग की पूर्ति संभव नहीं है। दायित्व पूरा करने में असमर्थता तथा पराधीनता स्वीकार करना मानव का अपना बनाया हुआ दोष है। दायित्व पूरा करने की अभिरुचि तीव्र होने पर दायित्व पूरा करने में असमर्थता तथा पराधीनता नहीं रहती; कारण, कि वास्तबिक प्रार्थना स्वतः पूरी हो जाती हैं, जिनकी अगाध करुणा से प्रार्थना पूरी होती ही हैं, वे सदैव अपने हैं पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने विचार पूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का अन्त कर दिया है।

प्रत्येक मानव को यह विदित ही है कि इन्द्रिय-जन्य तथा बुद्धि-जन्य प्रतीति में सतत् परिबर्तन तथा गतिशीलता है। सतत् परिवर्तन होने के कारण प्रतीति की स्थिति नहीं है। जिस प्रतीति की स्थिति ही नहीं ह उस प्रतीति के अस्तित्व को प्रतीति के रूप में स्वीकार करना जाने हुए का अनादर है। निज-ज्ञान का अनादर करते ही प्रतीति से ममता उत्पन्न हो जाती है। ममता उत्पन्न होते ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनापूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख भोगते-भोगते प्रतीति से तादात्म्य हो जाता है और फिर भोक्ता और भोग्य, ये दोनों ही प्रतीति की अवस्थायें भासने लगती हैं किन्तु भोग के परिणाम

का प्रभाव जब भोक्ता पर होता है तब वह अपने में भोक्ता-भाव का त्याग कर जिज्ञासु-भाव की स्थापना कर लेता है, अर्थात् जो अपने को भोक्ता अनुभव करता था वह प्रतीति की वास्तविकता जानने के लिए आकुल हो जाता है। प्रतीति की जिज्ञासा प्रतीति की स्थिति की सत्यता को खा लेती है। प्रतीति की स्थिति अस्वीकार करते ही प्रतीति से दृष्टि हट जाती है और अपने उद्गम में विलीन हो जाती है जिसके होते ही प्रतीति, प्रतीति के साधन और प्रतीति-कर्ता इन तीनों में एकता हो जाती है। यह एकता भी एक अवस्था ही है, बोध नहीं। इस अवस्था में विषमता नहीं रहती अशान्ति नहीं रहती और न दुःख ही शेष रहता है, परन्तु इस अवस्था का तादात्म्य भी बोध नहीं है। इस अवस्था में रमण न करने से अभिन्नता होती है। और फिर निर्विकल्प बोध स्वतः हो जाता है। निर्विकल्प बोध में ही नित्य-जाग्रति है, अर्थात् अवस्थान्तर का प्रभाव शेष नहीं रहता। अवस्थान्तर प्राकृतिक नियम के अनुसार सतत् होता रहता है, किन्तु उससे तादात्म्य नहीं रहता। तादात्म्य मिटते ही असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है और फिर अहं-भाव रूपी अणु स्वयं गल जाता है जिसके गलते ही योग, बोध, प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जो मानव की वास्तविक माँग है। योग, बोध और प्रेम विभूतियाँ हैं उस असीम अनन्त नित्य-चिन्मय तत्व की। समस्त विश्व स्वभाव से ही उसकी ओर गतिशील है।

मानव की अभिन्नता योग, बोध, प्रेम से होती है। योग, बोध, प्रेम जिसकी विभूतियाँ हैं वह तो स्वतः सिद्ध है। उसमें आस्था की जाती है, उसकी प्राप्ति होती है किन्तु उसका वर्णन सम्भव नहीं है।

भूल-जनित आसक्ति आदि दोषों की उत्पत्ति एकमात्र निज ज्ञान के अनादर में ही निहित है। मानव-दर्शन, अर्थात् मानव का अपना अनुभव भूल-रहित होने की प्रेरणा देता है। भूल को भूल जानते ही भूल मिट जाती है, जिसके मिटते ही भूल-जनित दोष सदा के लिए नाश हो जाते हैं और फिर अपने आप योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग सामर्थ्य का, बोध चिन्मयता का तथा प्रेम रस का प्रतीक है। अतः योग, बोध, और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही असमर्थता, जड़ता एवं नीरसता का अन्त निहित है। असमर्थता, जड़ता तथा नीरसता किसी भी मानव को स्वभाव से रुचिकर तथा अभीष्ट नहीं है। जो रुचिकर नहीं है उसका त्याग और जो अभीष्ट नहीं है उससे असंगता स्वतः हो जाती है। त्याग से परम-शान्ति और असंगता से चिन्मयता और नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है जो मानवमात्र को स्वभाव से प्रिय है।

प्रियता जिसमें जाग्रत होती है उसे अपने से अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है उसे रस प्रदान करती है इस दृष्टि से प्रेम और प्रेमास्पद में किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है। भिन्नता के रहते हुए प्रियता जाग्रत ही नहीं होती। अतः प्रियता अभिन्नता से ही साध्य है। वास्तविकता के बोध में भी अभिन्नता ही हेतु है, कारण, कि सत् से अभिन्न होने पर ही सत् का बोध होता है। असत् से असंग होने पर असत् की निवृत्ति होती है। असत् का तादात्म्य ही असत् को जीवित रखता है और सत् की अभिन्नता ही सत् के बोध में हेतु है। असत् की असंगता ही सत् की अभिन्नता में परिणत होती है।

किसी प्रकार की दूरी रहने पर नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं होती। दूरी रहते हुए तो संयोग तथा भोग ही सम्भव है।

यह सभी को विदित है कि संयोग वियोग में बदल जाता है और भोग का परिणाम रोग तथा शोक ही है। भोग के परिणाम का प्रभाव भोग-जनित सुख लोलुपता को नष्ट कर देता है जिसके नाश होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में परिणत हो जाती है। योग की उत्कट लालसा दूरी तथा भेद को खा लेती है। इस दृष्टि से नित्य-योग की अभिव्यक्ति भी अभिन्न से ही साध्य है। अतः योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति भेद और भिन्नता के अन्त में ही निहित है। योग, बोध तथा प्रेम के रस में भले ही भेद हो पर इन तीनों में स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से किसी भी एक की प्राप्तिमें तीनों ही की प्राप्ति होती है। परन्तु योग का अभिमान रहते हुए बोध नहीं होता और बोध का अभिमान रहते हुए प्रेम नहीं होता, अर्थात् व्यक्तिगत सुख के लिए सम्पादित योग तथा बोध अगाध, अनन्त, नित-नव-प्रियता को जाग्रत नहीं होने देते। परन्तु जिसकी अहैतुकी कृपा से योग, बोध प्राप्त करने की सामर्थ्य मिली वह अपनी कृपा से आप मोहित हो, योग, बोध के अभिमान को नष्ट कर, अपनी अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता से अभिन्न कर देता है। भिन्नता के रहते हुए जो प्रियता है वह वास्तव में प्रियता नहीं है; कारण, कि उस प्रियता में अपने अस्तित्व को बनाये रखने का प्रलोभन रहता है। प्रियता के आरम्भ में भले ही भिन्नता प्रतीत हो किन्तु ज्यों-ज्यों प्रियता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों भिन्नता स्वतः मिटती जाती है। भिन्नता मिटने पर प्रियता उत्तरोत्तर गाढ़ ही होती रहती है, अर्थात् अनन्त की प्रियता भी अनन्त ही है।

योग में शान्त, बोध में अखण्ड और प्रियता में अनन्त रस है। शान्त और अखण्ड रस के आश्रित अहम्-भाव रूपी अणु

जीवित रहता है। इसी कारण न तो मानव को शान्ति में रमण करना है और न स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट रहना है, किन्तु शान्ति तथा स्वाधीनता को प्राप्त अवश्य करना है। शान्ति की अभिव्यक्ति निर्ममता तथा निष्कामता में निहित है और असंगता से अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु जब असंगता अभिन्नता में परिणत हो जाती है तब एकमात्र अगाध-प्रियता ही रह जाती है। अनन्त की प्रियता अनन्त के लिए रस-रूप है। भिन्नता के रहते हुए प्रीति अपने लिए रस-रूप है। भिन्नता का अन्त होने पर प्रियता प्रीतम के लिए रस-रूप है इस दृष्टि से मानव सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यह मानव की महिमा उन्हीं की देन है। अतः अपने में अपना कुछ न होने पर भी मानव सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव निज-ज्ञान का आदर करते हुए ममता, कामना तथा तादात्म्य से रहित हो जाय अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता, असङ्गता एवं आत्मीयता से युक्त हो जाय।

जाने हुए के प्रभाव में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असङ्गता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। कर्त्तव्य-परायणता, असङ्गता और आत्मीयता साधन हैं। साधन की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब मानव प्राप्त प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करे। असत् के त्याग में असत् का ज्ञान ही हेतु है। भूल-जनित वेदना से जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जाग्रति असत् की कामना को नाश करती है। कामनाओं का अन्त होते ही असत् से असङ्गता प्राप्त होती है, जो असत् के ज्ञान में हेतु है। असत् की

निवृत्ति और सत् की प्राप्ति युगपत् है। इस दृष्टि से सन्देह-जनित वेदना में ही जिज्ञासा की जाग्रति तथा पूर्ति निहित है। सन्देह-रहित हुए बिना, चैन से रहना भूल है। सन्देह की निवृत्ति वर्तमान की वस्तु है; कारण, कि विचार से साध्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष होती है उसके लिए भविष्य की आशा हो सकती है, किन्तु जिसकी उपलब्धि विचारसाध्य है उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानव के सर्वतोमुखी विकास में समर्थ है। अपने दर्शन का अनादर करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अपने दर्शन के आदर में ही जीवन है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्व की वस्तु है।

२

असत् का विवेचन

असत् की अनुभूति-जनित वेदना सत् की जिज्ञासा जाग्रत करती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों असत् का आकर्षण मिटता जाता है। ज्यों-ज्यों असत् का आकर्षण मिटता जाता है त्यों-त्यों सत् की खोज की अभिरुचि बढ़ती जाती है। इस दृष्टि से असत् की अनुभूति बड़े ही महत्व की वस्तु है। असत् को असत् जान लेने पर भी असत् का तादात्म्य उस समय तक जीवित रहता है, जब तक मानव सत् की खोज को जीवन का सर्वोत्कृष्ट प्रथम प्रश्न नहीं बना लेता। सत् की खोज वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु असत् से असंग होना ही सत् की खोज को सजीव बनाना है। असत् से असंग होने के लिए असत् का ज्ञान ही एक-मात्र उपाय है। असत् का ज्ञान प्राप्त प्रकाश से ही साध्य है। पर उस प्रकाश का आदर करने के लिए इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के सम्बन्ध में यथेष्ट विचार करना होगा। प्रत्येक दृष्टि किसी न किसी प्रकाश के आश्रित रहती है। दृष्टि प्रकाश नही है। जो प्रकाश नहीं है उसका उपयोग कर सकते हैं किन्तु उसके प्रभाव से प्रभावित नहीं होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का समुचित उपयोग करने पर भी मानव को उसके प्रभाव से मुक्त होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव असत् से

तादात्म्य कर देता है। इस कारण उसके प्रभाव का अन्त करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए भी सत्य के जिज्ञासु को इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होना है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव आदरपूर्वक निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव को अपनाये। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव स्वतः मिटता जाता है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव सर्वांश में मिट जाने पर बुद्धि-दृष्टि स्वतः सम हो जाती है। फिर जिज्ञासा पूर्ति की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। इस कारण सत्य की खोज करने के लिये प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

असत् के ज्ञान में ही असत् की निवृत्ति तथा सत् की प्राप्ति निहित है, पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने असत् का अनुभव कर असत् से असंगता प्राप्त की है। सत् की जिज्ञासा असत् से असङ्ग होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से असत् की असंगता ही सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

असत् में असत् से असंग होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता और सत् में सत् से अभिन्न होने की माँग नहीं होती। असत् से असङ्ग और सत् से अभिन्न होने की माँग न तो असत् में है और न सत् में, अपितु जिसने असत् से तादात्म्य स्वीकार किया है उसी में असत् से असङ्ग और सत् से अभिन्न होने की माँग है। जिसमें यह माँग है वह स्वयं न असत् है और न सत्; कारण, कि असत् में असत् की ममता और सत् में सत् की जिज्ञासा नहीं होती। जिसमें असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा है वह

असत् और सत् दोनों से ही विलक्षण है और वही मानव है। इस दृष्टि से मानव स्वयं न जड़ तत्व है और न चेतन, पर वह अपने को जिससे मिला लेता है उसी के स्वभाव को अपने में आरोपित कर लेता है। असत् से तद्रूप होने पर भी सत् की जिज्ञासा नाश नहीं होती। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव की असत् से जातीय एकता नहीं है। जिससे जातीय एकता नहीं है उससे असंग होना सहज तथा स्वाभाविक है। इस दृष्टि से असत् से असङ्ग न होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। असत् से जातीय एकता नहीं है, यह मानवमात्र का अपना अनुभव है। अपने अनुभव का आदर न करना अपने विनाश का मूल है। निज अनुभव का आदर करते ही निर्ममता तथा निष्कामता स्वतः आ जायगी और फिर निर्विकारता तथा परम-शान्ति के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश होगा जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

प्रतीति की ममता और उसका तादात्म्य असत् का आकर्षण उत्पन्न करता है और असत् के आकर्षण से ही भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का जन्म होता है। यद्यपि प्रवृत्तियों के परिणाम में असमर्थता और अभाव के अतिरिक्त किसी भी मानव को कुछ नहीं प्राप्त होता परन्तु मानव अपने इस अनुभव का आदर नहीं करता। इतना ही नहीं प्रत्येक प्रवृत्ति प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः निवृत्ति में विलीन होती है किन्तु प्रवृत्ति-जनित-आसक्ति निवृत्ति में प्रवृत्ति की रुचि उत्पन्न कर देती है। अनेक बार असमर्थता एवं अभाव से पीड़ित होने पर भी मानव सहज निवृत्ति को सुरक्षित रखने का अथक प्रयास नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति काल में भी पराधीनता और असमर्थता काल में भी पराधीनता से पीड़ित होता है।

पराधीनता की पीड़ा जब असह्य होने लगती है तब प्रवृत्ति की रुचि नाश हो जाती है। जिसके नाश होते ही अपने आप आने वाली निवृत्ति सुरक्षित होने लगती है। ज्यों-ज्यों निवृत्ति स्थायी होने लगती है त्यों-त्यों स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार असत् के आकर्षण से अनेक प्रवृत्तियाँ पोषित होती हैं उसी प्रकार निवृत्ति में सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मानव की प्रगति स्वाधीनता के साम्राज्य में होती है। इस दृष्टि से निवृत्ति के सुरक्षित होने मात्र से हो असत् की असङ्गता और सत् की प्राप्ति होती है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में ही प्रवृत्ति का उपयोग है। संकल्प-पूर्ति मात्र से किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती। इस कारण संकल्प-पूर्ति और अपूर्ति दोनों ही परिस्थितियों का उपयोग एकमात्र संकल्प-निवृत्ति में ही है। इस मंगलमय विधान का आदर करने पर सुखी और दुखी दोनों ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाने हुए असत् से असंग हो सकते हैं। असत् को अनुभूति के आदर में ही असत् से असंग और सत् से अभिन्न होने की सामर्थ्य निहित है। असत् की अनुभूति असत् से तादात्म्य नहीं रहने देती अपितु सत् की उत्कट जिज्ञासा जाग्रत करती है। असत् का तादात्म्य एकमात्र असत् की अनुभूति न होने में ही है।

असत् से तादात्म्य होने पर भी बीजरूप से सत् की जिज्ञासा मानवमात्र में विद्यमान रहती है। यदि ऐसा न होता तो असत् की अनुभूति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता और असत् की अनुभूति बिना हुए सत् की खोज ही उत्पन्न न होती। इस कारण बीज रूप से विद्यमान सत् की जिज्ञासा को जाग्रत करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब मानव अपनी वास्तविक

माँग से निराश न हो अपितु उसकी वास्तविक माँग की पूर्ति की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही सुगम उपाय है असत् की अनुभूति तथा असत् से असंग होने का। असत् की अनुभूति जिसे होती है वही सत् का जिज्ञासु है। सत् के जिज्ञासु में असत् का आकर्षण शेष नहीं रहता, परन्तु जब तक सत् की जिज्ञासा सर्वांश में जाग्रत नहीं होती तब तक अंश रूप से असत् का आकर्षण और सत् की जिज्ञासा दोनों ही, किसी एक में ही विद्यमान रहते हैं। बस, यही मानव का अस्तित्त्व है। असत् के आकर्षण का नाश करने का दायित्व मानव पर है। मंगलमय विधान से दायित्व को पूरा करने की सामर्थ्य प्रत्येक मानव को स्वतः प्राप्त है। परन्तु जब मानव प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करता तब अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व को पूरा करने में ही माँग की पूर्ति निहित है।

दायित्व पूरा करने में शिथिलता क्यों? असावधानी क्यों? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो माँग वर्तमान में पूरी हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि माँग शिथिल हो जाती है। वास्तविक माँग की शिथिलता असत् के आकर्षण को पोषित करती रहती है। असत् का आकर्षण जितना मधुर प्रतीत होता है, उतनी मधुरता असत् की ओर गतिशील होने में नहीं है। प्रवृत्ति की रुचि जितनी आकर्षक है उतनी प्रवृत्ति नहीं। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति का आरम्भ होते ही शनैः शनैः प्रवृत्ति की मधुरता मिटती जाती है और मानव असमर्थता में आबद्ध होता जाता है। असमर्थता तथा अभाव की असह्य वेदना असत् के आकर्षण का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से

असह्य वेदना ही विकास की भूमि है। मानव अपने अनुभव का अनादर कर उस वेदना को तीव्र नहीं होने देता और प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता से वास्तविक माँग को शिथिल करता रहता है। प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता से देहाभिमान पुष्ट होता है, जिसके होने से मानव असत् से तद्रूप हो जाता है और सत् को जिज्ञासा शिथिल हो जाती है। ऐसी दशा में मानव दायित्व पूरा करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यह असमर्थता प्राकृतिक नहीं है, अपितु मानव की भूल से उत्पन्न हुई है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि दायित्व पूरा करने में मानव अपनी भूल से ही अपने को असमर्थ बनाता है और वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश होने लगता है। जिससे निराश नहीं होना चाहिये उससे निराश होने पर उन आशाओं का जन्म हो जाता है जिनसे निराश होना अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि किन-किन आशाओं से निराश होना अनिवार्य है? जो आशायें मानव को पराधीनता में आबद्ध करती हैं उनका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब वास्तविक माँग की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। वास्तविक माँग वही है जिसकी पूर्ति स्वाधीनता पूर्वक हो सकती है। स्वाधीनता की प्राप्ति भी स्वाधीनता पूर्वक ही होती है। यदि मानव उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त करदे जो पराधीनता से सम्पादित होती हैं तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस उपाय की प्राप्ति हो जाती है जिससे मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है।

स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त करने में जो असमर्थता तथा पराधीनता भासित होती है वह वास्तव में असत् के आकर्षण का ही परिणाम है। असत् का आकर्षण असत् से तद्रूप

होने पर ही होता है। असत् का तादात्म्य सत् की उत्कट लालसा से ही मिट सकता है, जिसके मिटते ही असत् का आकर्षण शेष नहीं रहता। असत् के आकर्षण का नाश और सत् में आत्मीयता युग-पत् है। यह सभी को विदित है कि आत्मीयता प्रियता की जननी है। सत् की प्रियता असत् की आसक्ति को खाकर मानव को सत् से अभिन्न करती है। सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत् की प्रियता ही एकमात्र असत् की नाशक है, जो सत् की आत्मीयता से ही साध्य है। जिसमें असत् का आकर्षण अंकित रहता है उसी में सत् की प्रियता जाग्रत होती है जो असत् के आकर्षण का विनाश कर मानव को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से सत् से आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। जिसका आकर्षण पराधीनता में आबद्ध करता है, वही वास्तव में असत् है; कारण, कि पराधीनता किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है, किन्तु पराधीनता-जनित-सुख की प्रतीति सुख के प्रलोभन की पुष्टि कर मानव को सुख की दासता में और दुःख के भय में आबद्ध कर देती है। यद्यपि सुख स्वभाव से प्रिय प्रतीत होता है परन्तु उसका स्थायी न रहना मानव में सुख की दासता से रहित होने की प्रेरणा देता है। इस कारण पराधीनता-जनित-सुख का मानव-जीवन में कोई विशेष स्थान नहीं है। स्वाभाविक माँग स्वाधीनता-जनित अविचल, असीम रस की है। इस माँग की पूर्ति एक-मात्र असत् से असङ्ग होने में ही निहित है जो असत् को असत् अनुभव करने से ही साध्य है।

कैसा अनुपम मंगलमय विधान है कि पराधीनताजनित सुख लोलुपता का नाश करने के लिए स्वभाव से ही पराधीनता-जनित-सुख चाहते हुए भी नहीं रहता। पराधीनता-जनित-सुख

की कामना के कारण ही मानव में पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है। बस; यही असत् का संग है। असत् के संग से ही जीवन में अनेकों दोष उत्पन्न होते हैं। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार दोष उत्पन्न होने पर भी निर्दोषता की माँग रहती है। निर्दोषता की माँग में ही निर्दोषता का अस्तित्व सिद्ध है। यदि उसका अस्तित्त्व न होता तो उसकी माँग ही न होती। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्दोषता को प्राप्त किये बिना ही उसके अस्तित्त्व को स्वीकार कर उसके गीत गाएँ। 'दोष-युक्त जीवन नहीं चाहिए' यह मानव की वास्तविक माँग है। जिसे प्राप्त करना है उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता। और जिसको नाश करना है उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता इस दृष्टि से प्रलोभन-रहित होना अनिवार्य है। प्रलोभन के आश्रय से ही वह जोवित रहता है, जो न असत् है और न सत्।

असत् और सत् से रहित वही है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता वह असत् से मिलकर असत् और सत् से मिलकर सत् जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ही असत् और सत् के अस्तित्व को भासित कराती है। यद्यपि मानव को असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति अभीष्ट है, परन्तु असत् और सत् का भास असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा को जीवित रखता है। सत् असत् का प्रकाश है। असत् सत् के प्रकाश से ही भासित है। असत् की ममता से सत् की माँग शिथिल हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वास्तव में सर्वकाल में नहीं है, उसका भी अस्तित्व मानव में अंकित हो जाता है, जिसके होते ही मानव स्वाधीनता

से विमुख हो पराधीनता में ही जीवन मान लेता है, जो वास्तव में भूल है।

असत् के अस्तित्व की स्वीकृति ही असत् को जीवित रखती है। सत् की तीव्र जिज्ञासा असत् के अस्तित्व की स्वीकृति का नाश करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् की जिज्ञासा बड़े ही महत्व की वस्तु है। असत् की ममता के समान और कोई जड़ता नहीं है और सत् की जिज्ञासा के तुल्य और कोई सजगता नहीं है। ज्यों-ज्यों सजगता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों जड़ता स्वत: मिटती जाती है। इस दृष्टि से सजगता बड़े ही महत्व की वस्तु है, जो एकमात्र सत् की तीव्र जिज्ञासा से ही साध्य है। सत् की जिज्ञासा असत् के तादात्म्य को नष्ट कर मानव को सत् से अभिन्न कर देती है, इस कारण असत् की अनुभूति तथा सत् की खोज मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। असत् की अनुभूति के बिना सत् की खोज उदित नहीं होती और सत् की खोज बिना किये असत् की निवृत्ति नहीं होती। असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति उसी प्रकार युग-पत है, जिस प्रकार सूर्य का उदय, अन्धकार की निवृत्ति एवं प्रकाश की प्राप्ति।

शरीर में अहम् तथा मम बुद्धि स्वीकार करना प्राप्त विवेक के विरुद्ध है। जो स्वीकृति विवेक-विरोधी है वह असत् है। असत् को असत् जान लेने पर भी यदि उसका त्याग नहीं किया जाय तो असत् के संग से अनेक विकार स्वत: उत्पन्न होते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार विकार-युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। जिसकी माँग व्यक्ति तथा समाज को नहीं है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण

असत् की अनुभूति का सदुपयोग एकमात्र असत् के त्याग में ही है। असत् का त्याग मानव अपने द्वारा कर सकता है; कारण, कि स्वीकृति का अस्वीकृति-पूर्वक अन्त करना प्रत्येक मानव के लिए सहज तथा स्वाभाविक है। अपनी स्वीकृति ही अपने को पराधीन बनाती है। असत् में स्वयं पराधीन बनाने की सामर्थ्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि पराधीनता एकमात्र अपने में अपनी असावधानी से ही उत्पन्न हुई है। पराधीन होने की वेदना में स्वाधीनता की माँग स्वतः उदित होती है। पराधीनता उसी समय तक जीवित है जब तक मानव उसे स्वीकार करता है। यद्यपि स्वभाव से पराधीनता प्रिय नहीं है परन्तु प्रमाद-वश मानव पराधीनता में ही स्वाधीनता का आरोप कर लेता है। यह सभी को मान्य होगा कि कामनाओं का उद्‌गम अविवेक सिद्ध है और कामना-पूर्ति में किसी-न-किसी रूप से पराधीनता में ही आबद्ध होना होता है, किन्तु प्रमादवश मानव कामना-पूर्ति में स्वाधीनता का आरोप कर लेता है। यह कैसी बिडम्बना है कि यद्यपि कामना-पूर्ति में घोर पराधीनता है, परन्तु वह स्वाधीनता जैसी भासित होती है। यह असत् के संग का ही परिणाम है। कामना-अपूर्ति-काल में तो पराधीनता की अनुभूति पराधीनता के रूप में ही होती है पर कामना-पूर्ति-काल में पराधीनता स्वाधीनता के रूप में प्रतीत होने लगती है। जब पराधीनता पराधीनता के रूप में प्रतीत होती है, तब उससे रहित होना बहुत ही सहज है, किन्तु जो पराधीनता स्वाधीनता के रूप में प्रतीत होती है उसका अन्त करना दुष्कर हो जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि पराधीनता पराधीनता नहीं है। कामना पूर्ति-अपूर्ति दोनों ही अवस्थाओं में पराधीनता ज्यों की त्यों विद्यमान है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान

पाते हैं जिन्होंने असत् की अनुभूति होने पर सत् की खोज की है। असत् को असत् जानकर ही सन्तुष्ट हो जाना और सत् की खोज न करना असत् की अनुभूति का दुरुपयोग है। जिस प्रकाश में असत् की अनुभूति होती है, वह प्रकाश भले ही सत् है और असत् को प्रकाशित करता है, किन्तु सत् की खोज के बिना असत् का नाश नहीं होता। सत् असत् को प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से असत् की अनुभूति होते ही सत् की खोज के लिए अथक प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। सत् की खोज-मात्र से असत् का तादात्म्य नष्ट हो जाता है, जिसके होते ही असत् से असंगता स्वतः हो जाती है। असत् की असंगता में ही सत् से अभिन्नता होती है। इस कारण प्रत्येक मानव को सावधानी पूर्वक अपनी अनुभूति का सतत् सदुपयोग करते रहना अनिवार्य है।

सत् की खोज तभी संभव है जब असत् का संग असह्य हो जाय और सत् की प्रियता सतत् जाग्रत रहे। प्राकृतिक नियमानुसार प्रियता समस्त आसक्तियों को नाश करने में समर्थ है। अतः सत् की प्रियता में ही असत् की आसक्तियों का नाश निहित है। आसक्ति मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है और प्रियता स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से सत् की प्रियता से असत् की आसक्ति का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। आसक्ति सदैव असत् में ही होती है और प्रियता सदैव उसी में होती है जो अविनाशी है, अर्थात् जिससे देशकाल की दूरी नहीं है, अपितु जो सर्वत्र ज्यों का त्यों सदैव विद्यमान है। जो मौजूद, अर्थात् नित्य प्राप्त है, वह ही सत् है और उसी की माँग है। जिसकी प्रतीति हो और प्राप्ति न हो वही असत् है। उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य

स्वीकार करना सत् से विमुख हो असत् का सङ्ग करना है, जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

असत् की निन्दा करना और उसकी चर्चा करना, उससे सम्बन्ध जोड़ना है। असत् के सम्बन्ध से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इस कारण असत् को असत् जानकर उससे विमुख होना है। असत् की विमुखता स्वतः सत् का संग करा देती है। सत् के संग से सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस दृष्टि से असत् की निन्दा नहीं करनी है, अपितु असत् को असत् जानकर उससे विमुख होना है। असत् से विमुख होने के लिए असत् की कामना का त्याग अनिवार्य है, जो एकमात्र सत् की प्रियता से ही साध्य है। स्वाधीनता का पुजारी सत् की प्रियता के बिना किसी प्रकार भी रह नहीं सकता। सत् की प्रियता उन्हीं प्राणियों को नहीं भाती जो पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं। यद्यपि पराधीनता के समान और कोई बन्धन नहीं है, परन्तु पराधीनता-जनित सुखलोलुपता पराधीनता की पीड़ा को तीव्र नहीं होने देती। पराधीनता की पीड़ा से ही स्वाधीनता की माँग जाग्रत होती है। इस दृष्टि से पराधीनता की पीड़ा विकास का मूल है। पराधीनता को बनाये रखना और स्वाधीनता से निराश होना मानव-जीवन का घोर अपमान है। मानव-दर्शन की दृष्टि से पराधीनता का अन्त तथा स्वाधीनता की प्राप्ति ही मानव की वास्तविक माँग है। पराधीनता प्रत्येक प्राणी को जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती है जो किसी भी मानव को कभी भी अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सर्वप्रथम अनुभूति पराधीनता की ही होती है, किन्तु बीज रूप से स्वाधीनता की माँग भी विद्यमान रहती है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब पराधीनता-जनित-पीड़ा स्वाधीनता की उत्कट लालसा जाग्रत कर देती है।

स्वाधीनता से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। सर्वतोमुखी विकास स्वाधीनता के साम्राज्य में ही है। स्वाधीनता के बिना न तो सर्व दुःखों की निवृत्ति ही होती है और न परिच्छिन्नता का ही नाश होता है। इतना ही नहीं प्रीति की जाग्रति भी एकमात्र स्वाधीनता से ही साध्य है। इस दृष्टि से स्वाधीनता बड़े ही महत्व की वस्तु है। स्वाधीनता की प्राप्ति किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के आश्रित नहीं है और न किसी प्रकार के श्रम से ही साध्य है। इसी कारण मानव-मात्र स्वाधीनता प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन है। अतः स्वाधीनता की तीव्र लालसा जाग्रत करना अनिवार्य है। इतना ही नहीं स्वाधीनता की माँग स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिसकी उपलब्धि माँग-मात्र से ही सम्भव है, उससे मानव निराश हो जाता है, पराधीनता में आबद्ध रहता है और अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर बैठता है। स्वाधीनता की माँग असत् की ममता तथा कामना एवं तादात्म्य का अन्त करने में समर्थ है। स्वाधीनता की माँग असत् की अनुभूति, सत् की खोज तथा सत् की प्राप्ति में हेतु है।

अचाह, अप्रयत्न और अभिन्न आदि दिव्य गुण स्वाधीनता के पुजारी में स्वतः अभिव्यक्त होते हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने सहज भाव से अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। वास्तविक माँग प्रत्येक मानव में विद्यमान है। असत् के तादात्म्य से उत्पन्न हुई कामनाओं से वास्तविक माँग ढक जाती है, मिटती नहीं। पराधीनता-जनित पीड़ा कामनाओं का अन्त कर वास्तविक माँग को जाग्रत कर देती है, जो विकास का मूल है।



३

मैं का विवेचन

'मैं' का भास तथा 'यह' की प्रतीति मानव-मात्र को स्वभाव से होती है, पर उसका अर्थ यह नहीं है कि भास-मात्र से ही 'मैं' की वास्तविकता का परिचय होता है। 'मैं' का भास होने पर भी 'मैं' क्या है ? यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है, अपने सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा जो कुछ सुना है, वह 'मैं' की वास्तविकता का परिचय नहीं है। ऐसी दशा में अपने सम्बन्ध में अपना क्या निर्णय है, इसका स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में 'मैं' का भास है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' कोई ऐसी वस्तु है जो अवस्थाओं से विलक्षण है। अवस्थाओं की प्रतीति है और 'मैं' का भास है। अवस्थाओं से तादात्म्य रखते हुए 'मैं' का बोध सम्भव नहीं है। अवस्थाओं से असङ्ग होने पर ही 'मैं' का वास्तविक परिचय सम्भव है। जाग्रत और स्वप्न के सम्बन्ध से मानव अपने को सुखी और दुखी अनुभव करता है। इससे यह विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग दृश्य के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। सुषुप्ति में सुख-दुःख का भास नहीं है। इससे यह मानना ही पड़ता है कि प्रतीति अर्थात् दृश्य से असंग होने पर ही 'मैं' की वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, अर्थात् जब

तक जाग्रत में सुषुप्तिवत् न हो जायँ, तब तक 'मैं' के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव सम्भव नहीं है। जाग्रत में सुषुप्तिवत् होने के लिए क्रियाशीलता तथा चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब जिज्ञासा-पूर्ति के लिए वर्तमान कर्त्तव्यकर्म विधिवत, फलासक्ति रहित पूरा कर दिया जाय। ऐसा करने से आवश्यक सङ्कल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग करने की सामर्थ्य आ जायगी। आवश्यक संकल्प की पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग उत्पन्न न हो, तब मानव राग-रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्ति का अनुभव कर सकता है। जाग्रत-सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता और सुषुप्ति के समान दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। जाग्रत में जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता तब स्वतः, 'मैं' क्या हूँ, यह प्रश्न हल हो जाता है। 'मैं' का वर्णन किसी करण अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है; कारण, कि यह सब तो दृश्य ही हैं। दृश्य के सहयोग से उसका वर्णन नहीं हो सकता जिसको दृश्य की प्रतीति है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस, यही 'मैं' क्या हूँ ? इस प्रश्न को हल करने का उपाय है।

'यह' करके जिसको सम्बोधन करते हैं उसे 'मैं' नहीं कह सकते। इस दृष्टि से कोई भी दृश्य 'मैं' नहीं है। 'वह' करके जिसमें आस्था करते हैं उसे भी 'मैं कहना भूल हैं। 'यह' और और 'वह' से विलक्षण 'मैं' हो सकता है—यह भी अनुमान मात्र है, अनुभव नहीं। अब विचार यह करना है कि 'यह' की ममता तथा उसकी जिज्ञासा क्या 'यह' में हो सकती है ? कदापि नहीं।

'यह' की ममता तथा 'यह' की जिज्ञासा जिसमें है, क्या उसे 'वह' कह सकते हैं ? नहीं। इस दृष्टि से 'यह' और 'वह' से रहित 'मैं' होना चाहिये। पर अब भी स्पष्ट बोध नहीं हुआ कि 'मैं' क्या है ? आस्था और बोध में भेद है। आस्था में बोध का आरोप करना ज्ञान नहीं है और बोध में आस्था करना आस्था नहीं है। आस्था उसमें होती है जिसका बोध नहीं है। अर्थात् सुने हुए में आस्था होती है जाने हुये में नहीं। जाने हुए में न तो आस्था ही होती है और न सन्देह ही। सन्देह देखे हुए में होता है, बोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती है। 'मैं' देखा हुआ नहीं है और न जाना हुआ है। अतः 'मैं' के प्रति सन्देह भी नहीं होता और उसका बोध भी नहीं। 'मैं' किसी अन्य के द्वारा सुना भी नहीं है। उसका तो भास है। इस दृष्टि से किसी आस्था के आधार पर 'मैं' का निर्णय देना 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है और प्रतीति का आश्रय लेकर 'मैं' का विवेचन करना 'मैं' का बोध नहीं है। 'मैं' के ही द्वारा 'मैं' की खोज करना 'मैं' के परिचय में हेतु है।

प्रतीत होने वाला 'यह' और सुना हुआ 'वह' इन दोनों का सम्बन्ध किसमें है ? जिसमें है क्या उसे 'मैं' नहीं कह सकते ? परन्तु ऐसा कहने से भी तो 'मैं' के कार्य का परिचय होता है, स्वरूप का नहीं। कार्य कर्त्ता का विशेषण भले ही हो, पर स्वरूप नहीं है। 'यह' की प्रतीति में 'यह' का राग हेतु है और 'वह' की आस्था में 'वह' की माँग हेतु है। राग-रहित होने पर 'यह' से असंगता स्वतः होती है, जिसके होते ही 'वह' से अभिन्नता भी होती है। जिसने रागपूर्वक 'यह' से तादात्म्य स्वीकार किया था उसी ने असंगतापूर्वक 'वह' से अभिन्नता प्राप्त की। 'यह' की आसक्ति और 'वह' की अनुरक्ति किसी एक

ही में है। क्या उसी का नाम 'मैं' है ? यदि यह मान लिया जाय तो आसक्ति की तो निवृत्ति होती है और अनुरक्ति की जाग्रति। आसक्ति रहते हुए अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती और अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति के रहते हुए अनुरक्ति की माँग भले ही रहे पर अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती। अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति का लेश भी नहीं रहता, अर्थात् आसक्ति के अभाव में ही अनुरक्ति की जाग्रति है। क्या अनुरक्ति आसक्ति के समान नाशवान है ? क्या अनुरक्ति में भी आसक्ति के समान पराधीनता, जड़ता तथा अभाव है ? कदापि नहीं। अनुरक्ति अविनाशी है और जड़ता, पराधीनता, अभाव से रहित है। आसक्ति का परिणाम किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इस कारण आसक्ति के नाश का प्रश्न मानव-मात्र में है। आसक्ति का मूल दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार कर उसमें सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना है। दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय होते ही दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर आसक्ति विरक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

आसक्ति दृश्य की रुचि को जीवित रखती है और विरक्ति दृश्य से अरुचि उत्पन्न करती है। अरुचि रुचि को खाकर स्वतः अनुरक्ति से अभिन्न कर देती है। रुचि और अरुचि द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्मी-भूत कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विरक्ति आसक्ति का अत्यन्त अभाव कर स्वयं अनुरक्ति से अभिन्न हो जाती है। अनुरक्ति द्वन्द्वात्मक नहीं है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही सीमित अहम् भाव को जीवित रखती है जिसके रहते हुए यह समस्या हल नहीं होती कि 'मैं' क्या है ? अनुरक्ति के प्रादुर्भाव में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति

का नाश है, जिसके होते ही 'मैं' क्या है, यह प्रश्न स्वतः हल हो जाता है। 'यह' से परे 'मैं' है, 'यह' 'मैं' का परिचय नहीं है। 'मैं' के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसको अस्वीकार करना बड़ा ही भय उत्पन्न करता है। इस भय से बचने के लिए मानव यह स्वीकार कर लेता है कि मैं शरीर आदि दृश्य से अतीत हूँ। किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेश-मात्र भी न हो। 'मैं' के न होने की बात सुनकर जो भय उत्पन्न होता है, यह 'मैं' का राग है और इस प्रश्न को हल किये बिना चैन से रहना मैं' के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नहीं है। कारण, कि सम्बन्ध स्वयं अस्तित्व के रूप में भासित होने लगता है। इसी कारण 'यह' के सम्बन्ध से 'मैं' 'यह' जैसा प्रतीत होता है और 'मैं' अपने में 'यह' की आसक्ति अनुभव करता है और 'वह' से सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'मैं', 'वह' जैसा तथा 'वह' की अनुरक्ति अनभव करता है। 'यह' और 'वह' दोनों में यदि एकता स्वीकार की जाय तो दो स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो स्वीकृति के कारण 'यह' की प्रतीति भले ही हो, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसकी प्राप्ति नहीं होती उसका न तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न वह अपने को अपने आप प्रकाशित ही करता है। इस दृष्टि से 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार करना 'यह' की आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति जीवन नहीं है, अपितु पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की जननी है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अतः 'यह' की सत्ता स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि आस्था के आधार पर 'वह' की सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो 'यह' की आसक्ति का अन्त होते ही 'वह' की अनुरक्ति स्वतः जाग्रत होती है। आसक्ति और अनुरक्ति में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जन्म देती है और अनुरक्ति जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है। इस दृष्टि से अनुरक्ति का बड़ा ही महत्व है। आसक्ति का अत्यन्त अभाव बिना हुए अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस कारण आसक्ति का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र विरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति घृणा नहीं है, अपितु पराधीनता का अन्त करने में साधनरूप है। इस दृष्टि से विरक्ति पूर्वक ही अनुरक्ति प्राप्त होती है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति, इनसे जिसका सम्बन्ध है वह 'यह' और 'वह' से रहित है। संकेत भाषा में आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति 'मैं' का कार्य है 'मैं' नहीं; कारण, कि आसक्ति और विरक्ति दोनों ही अनुरक्ति से अभिन्न होती हैं। अनुरक्ति ने उससे भिन्न का अनुभव ही नहीं किया जिसकी वह अनुरक्ति है। अतः 'मैं' अनुरक्ति से अभिन्न हो, अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार 'मैं' आसक्ति से युक्त होकर पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध होता है उसी प्रकार 'मैं' विरक्ति से अभिन्न होकर अपने ही में सन्तुष्ट होता है और अनुरक्ति से अभिन्न होने पर 'मैं' अनन्त को रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से 'मैं' के सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम है, जो 'कुछ नहीं' होकर 'सब कुछ' है और 'सब कुछ' होकर 'कुछ नहीं' है। यही 'मैं' की विलक्षणता है।

यह नियम है कि जो, कुछ नहीं होता, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की सीमा, नाप-तौल नहीं है, वह सभी से अभिन्न हो

सकता है और उसमें सभी की स्थापना हो सकती है। इसी कारण अहम् में शरीर-भाव, जीव-भाव, ब्रह्म-भाव आदि की स्थापना हो सकती है, क्योंकि यदि 'मैं' कोई ऐसा पदार्थ होता, जिसका विवेचन बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव होता, तो उसमें किसी और की स्थापना सम्भव न होती, किन्तु अहम् में ही जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा और अनन्त की प्रियता विद्यमान है। ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त होने पर अहम् में जगत् का बीज शेष नहीं रहता, अर्थात् अहम् का दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता। इतना ही नहीं दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है और फिर तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः हो जाती है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी के नाश में ही योग की और भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम अहम् के ही रूपान्तर हैं, अर्थात् अहम् योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है। अहम् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु ममता, जिज्ञासा एवं आस्था की स्वीकृति जिसमें भासित होती है वही अहम् है। ममता का नाश, जिज्ञासा की पूर्ति और आस्था में आत्मीयता होने पर एक-मात्र प्रेम-तत्त्व ही शेष रहता है। प्रीति में अस्तित्त्व उसी का है जिसकी वह प्रीति है, प्रीति सतत् गतिशील तत्त्व है; 'यह' की ओर गति होने पर आसक्ति के रूप में भासती है, 'यह' से विमुख होने पर विरक्ति तथा 'वह' की ओर गतिशील होने पर अनुरक्ति होती है। यदि प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो आसक्ति विरक्ति में परिणत न होती और यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता न होती तो विरक्ति अनुरक्ति में परिणत न होती, पर मानव-दर्शन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति विरक्ति में और विरक्ति

अनुरक्ति में परिणत होती है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति का भास होता है और विरक्ति की पूर्णता होते ही अनुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति उसी समय तक अलग-अलग प्रतीत होती हैं जिस समय तक सर्वांश में आसक्ति का नाश नहीं होता। पराधीनता-जनित वेदना आसक्ति के नाश में हेतु है। आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है जो स्वाधीनता की जननी है। विरक्ति की पूर्णता स्वाधीनता-जनित रस में सन्तुष्ट नहीं रहने देती। बस उसी काल में विरक्ति स्वतः अनन्त की अनुरक्ति हो अनन्त को रस प्रदान करती है। आसक्ति सुख-लोलुपता और विरक्ति स्वाधीनता में परिणत होती है। किन्तु स्वाधीनता-जनित रस अखण्ड होने पर भी नित-नव नहीं है। नित-नव रस की भूख ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता-जनित रस से असंगता होती जाती है, असंगता की पूर्णता स्वतः प्रीति में परिणत होती है। इस दृष्टि से मानव की पूर्णता एकमात्र प्रीति से अभिन्न होने में ही है। आसक्ति का नाश होते ही शान्ति, शक्ति, मुक्ति स्वतः प्राप्त होती हैं, किन्तु शक्ति, मुक्ति आदि का आश्रय अहम् को परि-च्छिन्नता के रूप में जीवित रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता और उसके नाश हुए बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। यद्यपि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय हैं पर प्रियता का रस ऐसा विलक्षण है कि उसके लिए स्वाधीनता आदि का न्यौछावर करना सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अशान्ति की व्यथा मिटाने में शान्ति और असमर्थता की वेदना को मिटाने की शक्ति एवं पराधीनता की

पीड़ा के नाश में स्वाधीनता बड़े ही महत्व की वस्तु है। मानव बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि से अपने को अशान्ति, असमर्थता एवं पराधीनता में आबद्ध पाता है। इस कारण शान्ति, शक्ति और स्वाधोनता को महत्व देता है। वास्तव में तो शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता स्वतः प्रीति में परिणत होती हैं; कारण, कि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता में 'निज-रस' है। निज-रस में सन्तुष्ट हो जाना, अपनेपन को जीवित रखना है। अपनापन कितना ही महान् क्यों न हो, किन्तु उसमें किसी न किसी रूप में परिच्छिन्नता रहती है। जो यह अनुभव करता था कि 'मैं अशान्त हूँ' 'मैं असमर्थ हूँ', 'मैं पराधीन हूँ' वही अनुभव करता है कि 'मैं शान्त हूँ', 'समर्थ हूँ' 'स्वाधीन हूँ'। पराधीनता आदि दोषों की अपेक्षा स्वाधीनता आदि बड़े ही महत्व की वस्तुएँ हैं, परन्तु 'मैं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार की सीमा तो रहती ही है। परिच्छिन्नता रहते हुए किसी न किसी प्रकार की माँग रहती ही है, जिसके रहते हुए पूर्णता कैसी ? प्रीति का प्रादुर्भाव होने पर माँग का अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादु-र्भाव में ही मानव की पूर्णता है। यह मानव का अपना दर्शन है,

अपने में ब्रह्मभाव को स्थापना साधन-रूप है, किन्तु क्या ब्रह्म ने ब्रह्मभाव की स्थापना की ? यह भ्रम कि 'मैं' पहले ब्रह्म था, अब नहीं हूँ किन्तु जब मुझे किसी ने स्मरण दिलाया तब मुझे यह अनुभव हुआ कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो क्या ब्रह्म में ब्रह्म की विस्मृति हुई और फिर ब्रह्म ने ही मुझसे भिन्न होकर मुझे ब्रह्म की स्मृति दिलाई ? यदि ब्रह्म का यह अपमान अभीष्ट है तब तो यह मानना उचित ही है कि मैं ब्रह्म हूँ, पर भूल से अपने को जोव मानता था। माया और अविद्या ने मुझे

भुला दिया, अर्थात् माया और अविद्या ब्रह्म से सबल हो गईं। 'मैं' क्या हूँ? इसका उत्तर आस्था के आधार पर देना दर्शन नहीं है। दर्शन में आस्था अपेक्षित नहीं है। दर्शन का प्रादुर्भाव सन्देह की वेदना से होता है। सन्देह की वेदना जिसमें होती है वह मानव है और उसी में आसक्ति, जिज्ञासा तथा आस्था है। आसक्ति प्रमाद-जनित है। इस कारण उसका नाश होता है और जिज्ञासा की पूर्ति विचार-सिद्ध है। इस कारण उसकी पूर्ति होती है। सन्देह की वेदना को देख, जिज्ञासा की पूर्ति के लिए विचार के स्वरूप में किसी की अहैतुकी कृपा अवतरित होती है, जो अविचार का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान कर स्वतः विलीन हो जाती है। निस्सन्देहता की प्राप्ति में ही दर्शन की पूर्णता है। निस्सन्देहता स्वत: प्रीति प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है। सन्देह के रहते हुए प्रीति जाग्रत नहीं होती। सन्देह अपनी ही भूल से होता है। भूल अविवेक सिद्ध है। अत: जाने हुए का अनादर करने से भूल उत्पन्न होती है। मानव-दर्शन यह प्रेरणा देता है कि अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अपना लेना अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव न तो प्रतीत होने वाले दृश्य में में अहम्-बुद्धि को जन्म देता है और न स्वीकृतियों में ही अहम्-बुद्धि होने देता है। जाने हुए का प्रभाव प्रतीति से असंग कर जो 'है' उससे अभिन्न करता है। अभिन्नता में ही अगाध, अनन्त, प्रियता है। प्रतीति की आसक्ति जिसमें भासित है उसी में अगाध प्रियता की माँग है। आसक्ति के नाश में मांग की पूर्ति स्वत: सिद्ध है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही 'मैं' का वास्तविक स्वरूप है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात् स्थान भेद से प्रीति ही सेवा, त्याग तथा प्रेम के रूप में है। सेवा जगत् के लिए, त्याग अपने लिए एवं

प्रेम अनन्त के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन में ही मानव जीवन की पूर्णता निहित है।

अनन्त से अभेद-भाव-स्वीकार करने पर भी अनन्त की प्रियता ही वास्तविक एकता प्रदान करती है। प्रतीति से असंगता विचार-साध्य है। सन्देह की वेदना से विचार स्वतः अवतरित होता है। 'यह' जिसकी कृपा है 'मैं' उसी की प्रीति है और उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसी में आस्था करनी है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है उस पर विचार करना है। प्रतीति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः उस पर विचार करना है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त कर दिया जाय। ममता के नाश से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निष्कामता असंगता की जननी है और असंगता से तादात्म्य स्वतः नष्ट होता है, जिसके होते ही असत् की निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जिसका बोध नहीं है, अपितु सुना है उसकी आस्था यद्यपि दर्शन नहीं है, परन्तु साधन रूप अवश्य है। जो जाना हुआ नहीं है उसी से आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति बोध, प्राप्ति तथा प्रियता प्रदान करती है। विस्मृति से दूरी, भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है। सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति उदित होती है और विस्मृति नष्ट होती है। प्रतीति-जनित सुख-लोलुपता के रहते हुए 'है' से सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं है; कारण, कि 'नहीं' में 'है'—बुद्धि स्वीकार करने से ही, 'है' से विमुखता होती है। 'नहीं' को 'नहीं' जान

लेने पर 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' में आत्मीयता बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रत होती है, जो स्मृति में हेतु है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक की हुई स्वीकृति साधन-रूप होने से मान्य है। किन्तु उसे बोध मानना आस्था को ही बोध कहना है। बोध किसी की अपेक्षा से नहीं होता; कारण, कि बोध जिसका होता है और जिसे होता है उसमें भेद नहीं रहता, अर्थात् बोध के लिए जाने हुए का आदर ही एकमात्र सहयोगी साधन है।

मानव में बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा देखे हुए का प्रभाव अंकित है। उस प्रभाव के रहते हुए सुने हुए में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। अतः जाने हुए के प्रभाव से जब देखे हुए का प्रभाव नाश हो जाता है, तब स्वभाव से ही निर्ममता, निष्कामता एवं असङ्गता आ जाती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में ही दर्शन निहित है।

जिस प्रवृत्ति तथा स्वीकृति के मूल में दार्शनिक भित्ति नहीं होती वह प्रवृत्ति तथा स्वीकृति साधन-रूप नहीं है। अतः प्रत्येक मानव को निज विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना अनिवार्य है कि प्रवृत्तियों तथा स्वीकृतियों के मूल में जाने हुए का अनादर तो नहीं है। जाने हुए का अनादर करने पर वास्तविकता से परिचित होना सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्देह-युक्त दशा में मानव न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर पाता है और न परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न ही होता है। इस कारण निस्सन्देहता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह

तभी सम्भव होगा जब किसी भी प्रकार जाने हुए का अनादर न किया जाय। जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

देखा हुआ, यद्यपि ज्ञान जैसा प्रतीत होता है परन्तु वह ज्ञान नहीं है। कारण, कि देखने में करण की अपेक्षा होती है। किसी करण द्वारा 'मैं' का बोध नहीं होता। करण के द्वारा तो केवल 'यह' के सम्बन्ध में ही खोज होती है। 'मैं' का अनुभव करने के लिए 'यह' से असहयोग करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही साध्य है। निर्ममता, निष्कामता किसी प्रवृत्ति से साध्य नहीं है; कारण, कि प्रत्येक प्रवृत्ति मिले हुए के सहयोग से ही सम्भव है। जिससे निर्मम तथा निष्काम होना है उसके सहयोग का त्याग आवश्यक है। इस दृष्टि से निर्ममता तथा निष्कामता विचार से ही साध्य है। विचारपूर्वक ममता तथा कामनाओं का त्याग करने पर असङ्गता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही तादात्म्य का अन्त हो जाता है। तादात्म्य के नाश में ही वास्तविक बोध की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण बोध विचार से ही साध्य है, आस्था से नहीं। आस्था स्वयं स्वतंत्र पथ है उसके लिए विचार अपेक्षित नहीं है और विचार स्वतन्त्र पथ है उसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। इन दोनों का मिलाना दोनों की वास्तविकता से अपरिचित होना है। विचार असत् की निवृत्ति में हेतु है; कारण, कि असत् की प्रतीति अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय अविचार का अन्त कर स्वतः अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से विचार वास्तविकता के बोध के लिए साधन-रूप है। बोध होने पर अविचार की उत्पत्ति नहीं होती और विचार का भास नहीं होता। विचार का भास अविचार के रहते हुए ही है।

'मैं' विचारक हूँ, यह भास अविचार काल में ही है। वास्तव में तो 'मैं'—रहित विचार ही विचार है, जो अविचार का अन्त करने में समर्थ है। श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने पर तो एकमात्र प्रियता ही शेष रहती है, परन्तु मुझमें आस्था है, यह भास तभी तक होता है जब तक प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। आत्मीयता की प्राप्ति के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वास साधन-रूप हैं। आत्मीयता में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास विलीन हो जाते हैं और आत्मीयता अगाध प्रियता में। जब तक आस्था श्रद्धा में, श्रद्धा विश्वास में और विश्वास आत्मीयता में एवं आत्मीयता प्रियता में परिणत नहीं होती तब तक यह भास होता है कि मुझ में आस्था है। मैं विश्वास पथ का साधक हूँ। परन्तु जब प्रियता से भिन्न कुछ नहीं रहता, तब मुझ में प्रेम है, यह भास भी नहीं होता, पर प्रेम है यही शेष रहता है। बोध और प्रेम इन दोनों में स्वरूप की एकता है किन्तु रस में भेद है। बोध का रस अखण्ड और प्रेम का अनन्त है। जीवन की माँग अनन्त रस की है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। साधन-रूप प्रेम बोध में विलीन होता है और साधन-रूप बोध प्रेम में विलीन होता है। साध्य-रूप बोध और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने आस्था से प्रियता और विचार से बोध प्राप्त किया है। साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो, किन्तु साधन की आसक्ति न हो। साधन की आसक्ति का नाश एकमात्र वास्तविकता से परिचित होने में ही निहित है। इस

कारण मानव-दर्शन का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

अपना वास्तविक परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। पराश्रय का त्याग होने पर अपने द्वारा अपना परिचय स्वतः हो जाता है। पराश्रय से तादात्म्य होने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनाओं की उत्पत्ति प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है और फिर मानव 'अपने' को अथवा 'पर' को वास्तविक रूप से जान नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि देखे हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है जो किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। इस दृष्टि से पराश्रय के त्याग में ही वास्तविकता का बोध सम्भव है। पराश्रय का त्याग तभी सम्भव होगा जब पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर दिया जाय और पराधीनता असह्य हो जाय, अर्थात् स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार न रह सके। स्वाधीनता की उत्कट लालसा स्वतः निर्ममता, निष्कामता प्रदान करती है। निष्कामता-जनित शान्ति में और निर्ममता-जनित निर्विकारता में भी आबद्ध नहीं होना है, अर्थात् शान्ति में रमण नहीं करना है और न व्यक्तिगत गुणों का भोग करना है। शान्ति में रमण तथा गुणों का भोग न करने से स्वतः स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। यद्यपि शान्ति बड़ी ही मधुर है, परन्तु उसमें रमण करने से असङ्गता प्राप्त नहीं होती और असङ्गता के बिना वास्तविकता से अभिन्नता सम्भव नहीं है। निर्विकारता के समान और कोई सौन्दर्य नहीं है, किन्तु निर्विकारता को अपने में आरोप करने से व्यक्तित्व का मोह पोषित होता है, जो असीम अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं होने देता। यद्यपि सुन्दर व्यक्तित्व की माँग सभी को रहती है, परन्तु

व्यक्तित्व का अभिमान भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से पराश्रय का त्याग वही कर सकता है जिसने अपने को शान्ति तथा निर्विकारता से असङ्ग करने का प्रयास किया है। असंगता सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य से आकर्षित न होने पर ही सम्भव होती है, अर्थात् अनन्त-नित्य सौन्दर्य की उत्कट लालसा में ही असंगता निहित है। असंगता प्राप्त करने के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की लेश-मात्र भी अपेक्षा नहीं है, अपितु इनसे असहयोग करने पर अपने आप अपने में असंगता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक असंग हो सकता है और असंगता ही एकमात्र अपने वास्तविक परिचय में समर्थ है। असत् से असंग होने पर ही असत् का परिचय तथा उसकी निवृत्ति एवं सत् से अभिन्नता होती है। स्वाधीनता की तीव्र लालसा असत् के संग-जनित कामनाओं को नाश कर देती है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असत् की असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जाग्रति में ही अपना वास्तविक परिचय निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अपने सम्बन्ध में अपने ही द्वारा खोज की है। अपने द्वारा अपनी खोज न करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी बनाये रखना अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान करना है। अतः 'मैं' क्या हूँ ? इस सम्बन्ध में अपने ही को खोज करना है। 'मैं' की खोज करने में जब प्राप्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निकटवर्ती ही समर्थ नहीं हैं, तो फिर किसी अन्य के द्वारा 'मैं' की खोज हो सकती है, ऐसा सोचने के समान और कोई भूल नहीं है।

'पर' के द्वारा 'स्व' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। 'स्व' के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर' से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। 'पर' के सहयोग से एकमात्र 'पर' के सम्बन्ध में ही प्रयास हो सकता है। इन्द्रिय-जन्य प्रतीति पर बुद्धि-जन्य दृष्टि का प्रभाव हो सकता है, किन्तु 'स्व' की ओर गतिशील होते ही बेचारी बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही स्वयं 'स्व' में विचार का उदय होता है जो 'मैं' की वास्तविकता के परिचय में हेतु है। बुद्धि-दृष्टि का प्रयोग एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के नाश में है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही दृश्य की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर इन्द्रिय-दृष्टि स्वतः मन में और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि की समता यद्यपि सामर्थ्य की प्रतीक है; कारण, कि बुद्धि के सम होने पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है, परन्तु बुद्धि बेचारी 'स्व' के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती इस कारण अपना परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। 'पर' के द्वारा अपने सम्बन्ध में अनेक स्वीकृतियाँ स्वीकार कीं और प्रत्येक स्वीकृति ने किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह सभी को मान्य होगा कि प्रवृत्ति में प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता की दासता और परिणाम में अभाव ही सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से प्रवृत्ति द्वारा न तो मानव अपने को ही जान सका और न पराधीनता, अभाव एवं असमर्थता से भिन्न कुछ पा सका। इस दृष्टि से स्वीकृति 'स्वरूप' नहीं है, अपितु किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है।

स्वीकृतियों में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की जाग्रति होती

है। जिज्ञासा की जाग्रति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वत: 'स्व' में ही विचार का उदय होता है, जो जिज्ञासा पूर्ति में समर्थ है।

जो स्वीकृतियाँ प्रतीति, अर्थात् दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती हैं वे या तो काम की जननी हैं अथवा कर्तव्य की प्रतीक हैं। कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु यदि 'पर' से सुख की आशा की तो पुन: नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली स्वीकृतियों का कर्त्तव्य-निष्ठ होकर अन्त करना अनिवार्य है। अपने को शरीर मानने वाली स्वीकृति काम की जननी है। अत: अपने में से देह-भाव का अन्त कर निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम बिना हुए 'पर' से सुख की आशा का नाश नहीं होता और उसका नाश हुए बिना नवीन राग की निवृत्ति नहीं होती। राग-रहित होने पर ही स्वीकृतियों से रहित होने की सामर्थ्य आती है। अर्थात् स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि नहीं रहती। राग ही एकमात्र स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि जीवित रखता है। राग भूल से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि भूल है। भूल-जनित वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जाग्रति भूल-जनित सुख-लोलुपता के मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा स्वत: तीव्र हो जाती है। तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जिज्ञासा-पूर्ति में काल अपेक्षित नहीं है। जब तक सर्वांश में जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती, तभी तक वास्तविकता से अभिन्न होने में भविष्य की आशा रहती है। वास्तविकता के परिचय के लिए भविष्य की आशा जिज्ञासा को शिथिल करती है। जिज्ञासा की शिथिलता

जिज्ञासापूर्ति में विघ्न है। जिज्ञासा जो 'है' उसका बोध कराती है किसी अप्राप्त की प्राप्ति में हेतु नहीं है। जो प्राप्त है उसके परिचय के लिए क्या भविष्य की आशा भारी भूल नहीं है ? अवश्य है। 'है' का परिचय किसी श्रम से भी साध्य नहीं है; कारण, कि श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है उसका परिचय श्रम-रहित होने पर ही सम्भव है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम भले ही अपेक्षित हो किन्तु वास्तविकता से परिचित होने के लिए श्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीव्र जिज्ञासा से जब कामनाओं का नाश हो जाता है, तब स्वतः मानव श्रम रहित होता है। विश्राम की भूमि में स्वतः विचार का अवतरण होता है, जो वास्तविकता के बोध में समर्थ है।

श्रम-रहित होने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु सहज निवृत्ति है। यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्ति से सामर्थ्य का व्यय और निवृत्ति से सामर्थ्य का सम्पादन होता है अतः श्रम-रहित होते ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कामनाओं के रहते हुए प्राप्त सामर्थ्य की गति दृश्य की ओर होती है और निष्काम होते ही गति 'स्व' की ओर होती है, जो 'स्व' के बोध में हेतु है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त दृश्य को 'मैं' नहीं कह सकते; कारण, कि जिसको 'यह' कह कर जानते तथा सम्बोधन करते हैं उसको 'मैं' मान लेना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसे न तो इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा है और

न अपने द्वारा अनुभव किया है, अपितु सुना है उसको भी 'मैं' नहीं कह सकते। अर्थात् सुना हुआ आत्मा और परमात्मा तथा देखा हुआ शरीर और जगत् इन दोनों को ही 'मैं' नहीं कह सकते, पर अपने में शरीर आदि की ममता, आत्मा की जिज्ञासा एवं परमात्मा की लालसा अवश्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'मैं' न तो पर-प्रकाश्य जड़ है और न चेतन, पर यह ऐसा विलक्षण है कि जिससे मिला हो उस—जैसा ही प्रतीत होने लगता है। किसी की वास्तविकता को जानने के लिए उसे सभी से अलग करना अनिवार्य है। अतः अपने को यदि जड़, चेतन से न मिलाया जाय तभी अपना वास्तविक परिचय हो सकता है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के त्याग से जड़ से सम्बन्ध विच्छेद होता है। जड़ से सम्बन्ध विच्छेद होने पर 'मैं जड़ नहीं हूँ' यह अनुभव स्वतः हो जाता है, पर 'मैं क्या हूँ' यह स्पष्ट नहीं होता। इस दशा में मानव अधीर होकर श्रवण के आधार पर अपने को आत्मा, ब्रह्म आदि मान लेता है। अविचल आस्था होने से यह अनुभव होता है कि यह मेरा ज्ञान है। एक बार मान लेने पर भो बार-बार मनन करना इस कारण अपेक्षित हो जाता है कि कहीं पूर्व स्वीकृति पुनः न आ जाय। अब विचार यह करना है कि सुने हुए का मनन क्या आस्था की दृढ़ता के अतिरिक्त कुछ और है? अर्थात् कुछ नहीं। जो आस्था से साध्य है क्या वह बोध है? यदि बोध है तो आत्मा ने अपने में अनात्म-भाव को क्यों स्वीकार किया? अर्थात् चेतन तत्व ने जड़ से तादात्म्य क्यों स्वीकार किया? क्या चिन्मय तत्व में भी विस्मृति का दोष हो सकता है? यदि हो सकता है तो चिन्मय कैसा? पर अपने से अपने को इतना मोह हो गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि मैं जड़ नहीं हूँ तो चेतन हूँ।

चेतन सदैव चेतन है, और जड़ सदैव जड़ है। जड़ और चेतन का मिलन सम्भव नहीं है; कारण, कि दो विरोधी सत्तायें आपस में कभी नहीं मिलतीं। अतः यह मान लेना भी भ्रममूलक ही है कि जड़ चेतन के मिलने से जो ऐसी चीज उत्पन्न हुई जो न जड़ है और न चेतन वही 'मैं' है।

जब जड़ चेतन का मिलन ही नहीं है तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ वह 'मैं' है, यह भी भूल ही है। 'मैं' जड़ नहीं है, यह विवेक-सिद्ध है। 'मैं' चेतन है यह आस्थापूर्वक भले ही मान लिया जाय, पर बोध नहीं है। किसी का बोध किसी की आस्था हो सकती है, पर यह विचार-पथ नहीं है। विचार-पथ की दृष्टि से 'मैं' का अर्थ न तो देखा हुआ 'यह' है और न सुना हुआ 'वह'। 'यह' की आसक्ति और जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है वही 'मैं' है। आसक्ति का नाश तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर एकमात्र अगाधप्रियता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से 'मैं' का वास्तविक स्वरूप एकमात्र अगाध, अनन्त नितनव प्रियता है।

'मैं' की अन्तिम परिणति अगाधप्रियता में ही होती है। यह मानव का अपना दर्शन है; कारण, कि 'यह' की ममता करके जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी वह स्वाधीनता की लालसा के आधार पर नाश हो गई, जिसके होते ही पराधीनता मिट गई और 'मैं' स्वाधीन हूँ, यह बोध हो गया पर जिसकी अहैतुकी कृपा से आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य मिली थी उसको भूल जाना और उसके स्थान पर 'मैं' की ही स्थापना कर लेना, यह कहाँ तक युक्तियुक्त है ? 'है' की उदारता के दुरुपयोग के अतिरिक्त इसे और क्या कहेंगे कि जिसने स्वाधीनता प्रदान की उसको

भूल गए और 'है' के स्थान पर 'मैं' की स्थापना कर दी। 'है' की तो यह महिमा है कि वह सभी को सत्ता देता है, और अपनाता है। इसी कारण 'मैं' को स्वीकार करने पर 'मैं' ही सत्य मालूम होता है और 'यह' को स्वीकार करने पर 'यह' सत्य मालूम होता है। जिससे 'यह' और 'मैं' की सत्यता प्रकाशित होती है उसमें प्रियता ही 'मैं' की वास्तविकता है। परन्तु प्रियता स्वयं अपने ही में 'है' को विलीन कर ले, इससे 'है' में कोई क्षति नहीं होती क्योंकि 'है' स्वभाव से ही अनन्त है। परन्तु 'है' की प्रियता होकर 'मैं' का अन्त हो जाय, तो अनन्त रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि कोई यह स्वीकार करे कि 'यह' और 'वह' को अपने में विलीन करना है अर्थात् 'यह' और 'वह' 'मैं' की ही अभिव्यक्ति है तो इसमें भी 'है' को कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु 'मैं' और 'यह' की परिच्छिन्नता तो स्पष्ट ही विदित है। क्या परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति अनन्त हो सकती है? कदापि नहीं। परिच्छिन्नता 'है' की ही एक अवस्था मात्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं; कारण, कि 'है' अपने और अपने से भिन्न के प्रकाशन में समर्थ है। पर-प्रकाश्य की अभिव्यक्ति स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकती। स्वयं-प्रकाश की एक अवस्था पर-प्रकाश्य भी हो सकती है। अतः 'यह' और 'मैं' को 'है' में विलीन करना अधिक युक्ति-युक्त तथा स्पष्ट है, जो एकमात्र विरक्ति तथा अनुरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति 'यह' को 'मैं' में और अनुरक्ति 'मैं' को 'है' से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अगाध-प्रियता ही 'मैं' की अन्तिम परिणति है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जगत् को 'मैं' की आवश्यकता नहीं है और 'मैं' को जगत् की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसे जगत् की माँग है और शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप में प्राप्त हैं उसी की जगत् आवश्यकता अनुभव करता है। वस्तु आदि से रहित 'मैं' की आवश्यकता जगत् को नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' की जातीय एकता 'वह' के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है। यदि मानव जगत् से मिली हुई वस्तु को जगत् को भेंट कर दे तो जगत् को फिर और कुछ नहीं चाहिए। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, रहित जो 'मैं' का भास है वह तो एकमात्र 'वह' जो देखा हुआ नहीं है उसी की प्रीति है। इसी कारण अगाधप्रियता ही 'मैं' का स्वरूप है।

'यह' की ममता के कारण 'मैं' पराधीनता में आबद्ध होता है और निष्कामता, निर्ममता आदि के द्वारा 'मैं' पराधीनता-रहित होता है और 'वह' की आत्मीयता-पूर्वक 'मैं' अगाधप्रियता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि अभिन्नता उसी से होती है जिससे स्वरूप की एकता हो; आसक्ति से अभिन्नता कभी नहीं होती। इससे यह स्पष्ट विदित है कि 'यह' से 'मैं' की केवल मानी हुई एकता है जो भूल-जनित है। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीनता की लालसा आसक्ति को विरक्ति में परिणत करती है, परन्तु केवल विरक्ति मात्र से संतुष्टि नहीं होती। इससे यह विदित होता है कि विरक्ति जब तक अनुरक्ति से अभिन्न नहीं होती तब तक मानव कृत-कृत्य नहीं होता। अतः यह

निर्विवाद सिद्ध है कि अगाधप्रियता से ही 'मैं' की वास्तविक एकता है।

आसक्ति, परिच्छिन्नता और प्रियता के अतिरिक्त 'मैं' के सम्बन्ध में किसी की कोई अनुभूति ही नहीं है। 'यह' की ममता, कामना करके 'मैं' पराधीन हूँ, मुझ में अनेक आसक्तियाँ हैं, यही अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण नाश होने पर, अर्थात् निर्ममता, निष्कामता अपनालेने पर 'मैं पराधीन हूँ, मुझ में लोभ, मोह आदि विकार हैं,' यह अनुभूति शेष नहीं रहती। पराधीनता आदि का आरोप अपने में एकमात्र भूल-जनित है। भूल-जनित प्रतीति को वास्तविकता नहीं कह सकते। अतः आसक्ति 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है। निर्ममता, निष्कामता से उदित शान्ति, निर्विकारता तथा स्वाधीनता यह साधन जनित अनुभूति है। साधन-जनित अनुभूति का महत्त्व उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक किसी न किसी अंश में असाधन है। जिस प्रकार काष्ठ का अत्यन्त अभाव होने पर प्रज्ज्वलित अग्नि शेष नहीं रहती, उसी प्रकार असाधन का अत्यन्त अभाव होने पर साधन-जनित निर्विकारता, समता, स्वाधीनता आदि की अनुभूति तथा भास शेष नहीं रहता, अर्थात् दोष का नाश और गुणों का अभिमान गल जाने पर एकमात्र अनन्त की प्रियता ही शेष रहती है जो अनन्त से अभिन्न ही है। अतः मैं की वास्तविकता का परिचय अगाध, अनन्त नित-नव प्रियता से भिन्न नहीं है।

भोग में आबद्ध मानव मोक्ष के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मुक्ति भुक्ति की पीड़ा से बचाने का उपाय है और कुछ नहीं। भुक्ति की सुख-लोलुपता पराधीनता, अभाव

आदि में आबद्ध करती है। इस कारण सुख-लोलुपता त्याज्य है और मुक्ति मानव को शान्ति, स्वाधीनता आदि में आबद्ध करती है। अतः सुख-लोलुपता की दासता से रहित होने के लिए मुक्ति की महिमा है। वास्तव में तो मुक्ति प्रीति की जननी है; कारण, कि जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अर्थात् जिसकी शरीर आदि वस्तुओं में ममता नहीं है, वही अनन्त में आत्मीयता स्वीकार कर सकता है। आत्मीयता से ही अगाधप्रियता जाग्रत होती है जो अनन्त को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से 'मैं' अनन्त की भोग्य सामग्री है और कुछ नहीं, किन्तु जब 'मैं' स्वयं अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेता है तब पराधीनता की पीड़ा से रहित होने के लिए मोक्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। मुमुक्षता भोग-वासनाओं का अन्त कर पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। पराधीनता का नाश होने पर ही 'मैं' अनन्त की भोग्य वस्तु ही रह जाता है जो एकमात्र अगाध-प्रियता से भिन्न कुछ नहीं है।

अपना अनुभव अपने लिए हितकर है, पर यदि उसका आदर न किया जाय तो अपने विकास के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है, परन्तु अन्त में वही स्वीकार करना पड़ता है जो अपना अनुभव है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मानव-दर्शन का आदर करना अनिवार्य है। अपनी दशा और अपनी माँग अपने से अपरिचित नहीं है। अपनी दशा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के बिना न रह सके। यह नियम है कि जिसके बिना अल्प से अल्प काल रह सकते हैं

उसके बिना सदैव रह सकते हैं। सदैव उसी के साथ रह सकते हैं जो सदैव है। जो कभी है और कभी नहीं, उसके साथ सदैव रहने का निर्णय अपने आप को धोखा देना है, अर्थात् अपने अनुभव का अनादर करना है, जो विनाश का मूल है। जो कभी है, कभी नहीं है, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं, किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते। अतः प्राप्त वस्तुओं का ममता रहित सद्व्यय और प्राणियों की सेवा सम्भव है और यही सृष्टि में रहने की सर्वोत्कृष्ट कला है। इस कला से मानव में यह सामर्थ्य आजाती है कि वह उनके बिना रह सकता है जो उसके बिना रह सकते हैं। इस दर्शन के आधार पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति पूर्वक उस वास्तविकता का बोध होता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो उसका अपना है और अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। मानव अपने दर्शन का अनादर करने से ही अपने प्रिय से विमुख हो अनेक प्रकार की नीरसताओं में आबद्ध हो जाता है। यह उसकी अपनी ही भूल का परिणाम है। दर्शन की परावधि भूल के अभाव में है।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है, पर प्रमादवश असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव-जनित वेदना से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से बिमुख होता है। विमुख होते ही सत्-पथ में प्रगति स्वतः होती है। इस राह में श्रम की गंध भी नहीं है और बे-साथी और बे-सामान के ही इस पथ में गमन होता है। यह कैसी अलौकिक बात है। गति है पर श्रम नहीं, अर्थात् श्रम-रहित होते ही 'मैं' स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गन्ध

भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है। पर बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर अपनी महिमा को भूल जाता है। इसके भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की गन्ध भी नहीं है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है। राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं जिनके होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है, पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण आपत्तियों में आबद्ध होने पर भी वास्तविकता की लालसा बीज रूप से विद्यमान रहती ही है। ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती जाती है त्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है त्यों-त्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वह माँग वर्तमान की माँग हो जाती है तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही सत् का पथ स्वतः खुल जाता है और फिर वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

ममता तथा जिज्ञासा दोनों ही मानव में विद्यमान हैं और इन दोनों के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव का भास है। मानव-दर्शन ममता के नाश में समर्थ है। ममता का नाश होने पर जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से ममता और जिज्ञासा दोनों ही शेष नहीं रहतीं। ममता के नाश से निर्विकारता और जिज्ञासा-पूर्ति से निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है। सन्देह-रहित निर्विकार जीवन की प्राप्ति मानवमात्र के लिये सम्भव है। उससे निराश होना अपनी ही भूल है। अपनी भूल से ही अपना विनाश है। इस कारण मानव-जीवन में भूल को बनाये रखने का कोई स्थान ही नहीं है। भूल का अन्त करने के

लिये भूल को भूल जान लेना अनिवार्य है जो एकमात्र निज अनुभव के आदर में ही निहित है। भूल का ज्ञान किसी अन्य के ज्ञान से नहीं होता अपितु निज ज्ञान से ही मानव अपनी भूल को जानता है। भूल का ज्ञान और उसका नाश युगपत् हैं।

शरीर आदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में ममता भूल जनित है। पर यह भूल क्यों हुई, इस प्रश्न का उत्तर भूल का अन्त होने पर ही सम्भव है। जिसकी उत्पत्ति का अपने को ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा जब उत्पत्ति अपने कारण में लीन हो जाय। अर्थात् उत्पत्ति का नाश होने पर ही उत्पत्ति के कारण का बोध होगा। अतः भूल का नाश होने पर ही, भूल क्यों उत्पन्न हुई, इसका बोध होगा। कार्य के रहते हुए कारण की स्वीकृति तो होती है, किन्तु कारण का परिचय नहीं होता। यही कारण है कि भूल के रहते हुए मानव यह अनुभव नहीं कर पाता भूल क्यों हुई। भूल को भूल जानने के लिये ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तु स्थिति को देखता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य वास्तविक नहीं है, अपितु भूल-जनित है। जो वास्तविक नहीं है, उसका त्याग तथा नाश सम्भव है। ममता तथा कामना का त्याग करने पर तादात्म्य स्वतः नाश होता है। तादात्म्य का नाश होते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य और सीमित-अहम् भाव में आरोपित स्वीकृतियाँ 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है, अर्थात् प्रतीति और स्वीकृति 'मैं' नहीं है। जब प्रतीति और स्वीकृतियों से 'मैं' का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब 'मैं'एकमात्र किसी की माँग, किसी की खोज अथवा किसी की

प्रियता के रूप में ही भासित होता है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति एवं स्वाधीनता की माँग तथा वास्तविकता की खोज और जो 'है' उसी की प्रियता 'मैं' के स्वरूप में शेष रहती है। निर्ममता तथा निष्कामता से दुःख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है और तादात्म्य का नाश होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असीम अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन है और अन्त में 'मैं' उसी 'है' की अगाधप्रियता है।

यह मानव-मात्र को विदित है कि सर्व प्रथम भास अहम् के रूप में ही होता है और फिर मम का। अहम् और मम इन दोनों में किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता अवश्य है यदि ऐसा न होता तो अहम् की प्रवृत्ति मम की ओर न होती; कारण, कि एकता तथा भिन्नता के बिना पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होता। मम करके जिसे सम्बोधन करते हैं, उससे अहम् की किसी-न-किसी अंश में एकता अवश्य है, परन्तु मम की ओर गति होने पर परिणाम में अभाव ही अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस दृश्य का, जिसको अपना माना था अथवा जिसकी कामना की थी, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। प्रतीति हो, प्रवृत्ति हो किन्तु प्राप्ति न हो, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर फिर भी प्रतीति होती है। यदि अहम् अर्थात् अपने में मम की जाति की कोई भी वस्तु न होती तो मम का आकर्षण ही न होता। मम का आकर्षण यह सिद्ध करता है कि अहम् में कोई-न-कोई तथ्य मम की जाति का है। इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जब मानव अपने को मिले हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है तब उसे अपने में

देह-भाव भासित होता है। उसी भास के कारण प्रतीति का आकर्षण होता है। प्रवृत्ति के अन्त में अभाव-जनित अनुभूति प्रवृत्ति को निवृत्ति में परिणत कर देती है। सहज-निवृत्ति स्वतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहम्-बुद्धि नहीं रहने देती और जब यह स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अहम् नहीं हैं तब प्रतीति का आकर्षण नहीं रहता अर्थात् निष्कामता उदित होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर एकमात्र 'यह' से अतीत की खोज जाग्रत होती है जो उससे, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, अभिन्न कर देती है। मम का आकर्षण और वास्तविकता की खोज अहम् रूपी अणु में ही विद्यमान है। प्रतीति के आकर्षण का अन्त होते ही अहंता वास्तविकता की खोज होकर वास्तविकता से अभिन्न होती है। अर्थात् प्रतीति की कामना मिट कर सत् की जिज्ञासा में परिणत होती है। सत् की जिज्ञासा स्वतः सत् से अभिन्न होती है। सत् की अभि-न्नता सत् में प्रियता प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रतीति की ममता ही सत् की जिज्ञासा और सत् की जिज्ञासा ही सत् की अभिन्नता और सत् की अभिन्नता ही सत् की प्रियता में परिणत होती है। प्रतीति की ममता उसी समय तक जीवित रहती है जिस समय तक मानव प्रवृत्ति के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। प्रवृत्ति का आरम्भ काल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो अभाव ही शेष रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक का अनादर ही अविवेक है। इस दृष्टि से अपनी भूल ही एकमात्र प्रवृत्तियों का स्रोत है। प्रवृत्तियों का परिणाम असह्य होने से अपने में स्वयं

वास्तविकता की खोज जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविकता से भी 'मैं' की एकता है। प्रतीति से अहम् की भूल-जनित एकता है और वास्तविकता से वास्तविक एकता है। जिससे वास्तविक एकता है उसमें आत्मीयता स्वतः सिद्ध है और जिससे भूल-जनित एकता है उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता के त्याग से आत्मीयता में सजीवता आती है। ममता के रहते हुए आत्मीयता सजीव नहीं होती, जिसके बिना हुए प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। ममता-जनित आसक्ति पराधीनता में आबद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता की तो कौन कहे, स्वाधीनता में भी रमण नहीं करने देती, अपितु जो 'है' उसके लिये रसरूप सिद्ध होती है। यह आत्मीयता की महिमा है। परन्तु जब तक ममता-जनित आसक्ति का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक आत्मीयता की महिमा का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से अहम् से ममता का मिटा देना अनिवार्य है।

मम का अन्त होते ही अहम् स्वतः तत्त्व की जिज्ञासा तथा वास्तविकता की प्रियता में परिणत हो जाता है, अर्थात् अहम् और मम मिट कर प्रेम और प्रेमास्पद ही शेष रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। प्रेमी-रहित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। प्रेम का प्रादुर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेम ही प्रेमास्पद है। प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और मानव की माँग है। अहंता और ममता-जनित परिच्छिन्नता तथा आसक्ति का अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण प्रेम में पराधीनता नहीं है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर कुछ भी करना तथा पाना

शेष नहीं रहता। इस कारण प्रेम की अभिव्यक्ति में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता है। पर प्रेम-तत्त्व विश्राम तथा स्वाधीनता में आबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार फल की वाटिका का मूल्य चुकाने पर वाटिका की छाया, सुगंधि स्वतः प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। प्रेम प्रेमास्पद को रस प्रदान करता है और विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी होती है, किन्तु प्रेम के पुजारी में अपने लिए कुछ भी पाना नहीं रहता। इस कारण विश्राम, तथा स्वाधीनता स्वतः प्रेम से अभिन्न होती है। विश्राम तथा स्वाधीनता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। प्रेम ही प्रेमास्पद का नित्य वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

जब यह स्पष्ट विदित ही है कि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु एक गति है जो प्रतीति के रूप में भासती है, तो प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही प्रतीति स्वयं उसमें विलीन होती है जिसकी वह प्रतीति है। जब प्रतीति अपने उद्गम में विलीन हो जाती है तब अहम् स्वयं गति होकर उससे अभिन्न होता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है और उसके नाश में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रतीति का आकर्षण शेष नहीं रहता। प्रतीति का आकर्षण रहने पर तो उसी की ओर गति रहती है जिसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति

के आकर्षण में ही अभाव की अनुभूति है, अभाव स्वभाव से किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अभाव की भूमि में ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करने पर ही 'है' की माँग और असत् को असत् जान लेने पर ही सत् की जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं जब देखे हुए का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता तब सुने हुए में आस्था होती है, बस, यही आस्तिक दर्शन का उद्‌गम है।

यद्यपि आस्था की माँग मानवमात्र में स्वभाव-सिद्ध है, किन्तु इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के आधार पर मानव सृष्टि में आस्था स्वीकार करता है। परन्तु प्रवृत्तियों के परिणाम पर जब विचार करता है तो उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसकी ओर दौड़ते हों और न पकड़ पाते हों और अन्त में असमर्थता का अनुभव करते हों, वही संसार है। जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसकी आस्था कुछ अर्थ नहीं रखती, अर्थात् सृष्टि की सत्ता को स्वीकार करना भ्रममूलक ही है। पर जब मानव दृश्य से विमुख हो अपने ही में सन्तुष्ट होता है तब वह अपनी आस्था स्वीकार करता है और फिर उसे समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था भासित होती है अर्थात् जो सभी अवस्थाओं से अतीत है वही सभी अवस्थाओं में है। पर अवस्था-जनित तादात्म्य परि-च्छिन्नता में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। भेद भय को और भिन्नता संघर्ष को जन्म देती है, अर्थात् भिन्नता से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष में आबद्ध मानव पराधीनता एवं

क्षोभ में आबद्ध रहता है। पराधीनता चिन्मय जीवन से और क्षोभ समता से अभिन्न नहीं होने देता। इस दृष्टि से राग-द्वेष युक्त वस्तु-स्थिति किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। परन्तु भेद और भिन्नता के रहते हुए राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, उसका अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश निराश्रय तथा अप्रयत्न के बिना सम्भव नहीं है। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय मिटने पर निष्कामता तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है और फिर अप्रयत्न होने पर ही परिच्छिन्नता का नाश होता है। इस दृष्टि से अहम् से अतीत की आस्था ही वास्तविक आस्था है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध हो। इन दोनों में से किसी एक की वास्तविकता का परिचय होने पर दोनों ही का स्पष्ट बोध हो जाता है।

दृश्य का राग जिसमें है वह 'मैं' दृश्य की ही जाति का है। राग-रहित होने पर समस्त दृश्य अपने अधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि राग के होते हुए दृष्टि दृश्य से विमुख नहीं होती और उसके बिना हुए दृष्टि अपने उद्गम में विलीन नहीं होती। जब दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है तब उसकी गति उसकी ओर होती है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है उसे कोई भले ही अहम् के रूप में अनुभव करे, किन्तु अहम् भी वास्तव में उसी की एक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से सभी में सत्ता रूप से वही है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में किसी प्रकार की एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता नहीं हो सकती। उसमें

एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता का आरोप करना कर्त्ता का ही चमत्कार है। वह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता का परिचय तो अहम् और मम के नाश में ही निहित है। राग रहित भूमि में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है; कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति राग रहित होने से स्वत: होती है। अपने में अपना करके कुछ भी मानने पर कोई भी मानव किसी भी प्रकार राग रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए वास्तविकता का बोध नहीं होता। इस कारण राग का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र दृश्य के यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। दृश्य की वास्तविकता का परिचय दृश्य से विमुख होने पर ही होता है। दृश्य की विमुखता एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

देखे हुए और किए हुए का प्रभाव जब तक अंकित है तब तक स्वाभाविकता में प्रतिष्ठा नहीं होती और उसके बिना हुए वास्तविकता का परिचय नहीं होता अर्थात् निस्सन्देहता नहीं आती। देखा हुआ मिला नहीं, किया हुआ रहा नहीं, किन्तु उसकी स्मृति-मात्र अंकित है। यदि कुछ काल के लिए देखना और करना बन्द कर दिया जाय, अर्थात् न देखने और न करने को अपना लिया जाय तो भूतकाल से देखे हुए और किए हुए का जो प्रभाव अंकित है वह स्वत: प्रकट होगा। उस दृश्य से सहयोग तथा तादात्म्य स्वीकार न करने पर उत्पन्न हुआ चिन्तन अपने आप मिट जायगा और फिर स्वत: स्वाभाविकता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। जिसके होते ही वास्तविकता से अभिन्नता प्राप्त होती है और फिर मानव स्वत: निस्सन्देह हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किए हुए का परिणाम जो कुछ भी हो पर वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है अर्थात् वह लक्ष्य नहीं है। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में 'किया हुआ' हेतु नहीं है। करने का सम्बन्ध पर-हित में भले ही हो पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, पर फिर भी मानव में करने का राग है। करने के राग-निवृत्ति-मात्र के लिए ही करना है, पर वह तभी सम्भव होगा जब कर्म-सामग्री तथा कार्य-क्षेत्र में ममता न रहे और न फलासक्ति ही। निर्ममता तथा फलासक्ति रहित प्रवृत्ति से ही सहज-निवृत्ति आती है जो स्वाभाविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। अस्वाभा-विकता ने ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में मानव को आबद्ध किया है। इस कारण से अस्वाभाविकता का अन्त करना अनि-वार्य है, जो एकमात्र अचाह तथा अप्रयत्न से ही साध्य है। चाह-रहित होते ही स्वत: वर्तमान कार्य पूरा करने की सामर्थ्य आती है। चाह-युक्त मानव वर्तमान कार्य को विधिवत् नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कार्य करते रहने पर भी करने का राग नाश नहीं होता जो अवनति का मूल है। करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है। और अप्रयत्न हुए बिना सीमित अहम् भाव का नाश नहीं होता; उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद तथा भिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से अभिन्नता नहीं होती। वास्तविकता से अभिन्नता बिना हुए वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है; कारण, कि प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और 'है' से अभिन्न हुए बिना 'है' का बोध नहीं होता। इस दृश्य से 'यह' के परिचय में ही 'मैं' का परिचय और 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता के

अनुभव में ही 'है' की प्राप्ति, 'है' का बोध और 'है' की प्रियता निहित है।

अस्वाभाविकता सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का भास कराती है। इस दृष्टि से अस्वाभाविकता के रहते हुए जो सम्भव है, उसमें आस्था नहीं होती और जो असम्भव है उससे मानव निराश नहीं होता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि न तो अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर होता है और न सुने हुए में अविचल आस्था ही होती है और न जो कर सकते हैं और करना चाहिए उसे कर ही पाते है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है। 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति सम्भव है। 'नहीं' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो 'है' उसकी प्राप्ति होती है प्रतीति नहीं। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि दृश्य से विमुख हुए बिना नित्य-प्राप्त में आस्था ही नहीं होती। जिसमें आस्था नहीं होती उसमें आत्मीयता नहीं होती, और जिससे आत्मीयता नहीं होती उसकी प्रियता जाग्रत नहीं होती और प्रियता के बिना दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। दूरी के नाश में ही योग और भेद के नाश में ही बोध तथा भिन्नता के नाश में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति आत्मीयता से ही साध्य हैं।

दृश्य का राग, जो दृश्य से विमुख नहीं होने देता, किसमें है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दृश्य का राग दृश्य में नहीं हो सकता और न दृश्य के प्रकाशक में। दृश्य का राग उसी में है जिसने दृश्य में ममता

और दृश्य की कामना स्वीकार की है। उसका नाम अहम् हो सकता है; कारण, कि अहम् के बिना मम और मम के बिना कामना उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम की वास्तविकता का दर्शन किए बिना दृश्य से विमुख होना सम्भव नहीं है। जिसमें दृश्य की ममता तथा कामना है उसी में जिज्ञासा भी है और उसी की कोई माँग भी है। ममता, कामना, जिज्ञासा और माँग जिसमें है, वही अपने को 'मैं' कह कर सम्बोधित करता है। ममता, कामना के नाश में ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य है और निस्सन्देह होने में ही अविचल आस्था तथा आत्मीयता है। आत्मीयता में ही अगाध अनन्त, नित, नव प्रियता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'मैं' वही है जो दायित्व पूरा कर सकता है और जिसकी माँग पूरी होती है। ममता, कामना के त्याग का दायित्व उस पर है। दायित्व पूरा करते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति जिसको होती है वही 'मैं' है।

अब यदि कोई यह कहे कि मुझे दृश्य का राग अभीष्ट नहीं है, अतः ममता, कामना, तादात्म्य के त्याग से निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता से अभिन्न होना है। क्या जिससे अभिन्न होना है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? यदि है तो 'मैं' क्या उसकी प्रियता से भिन्न कुछ और है? प्रियता में अस्तित्व किसका होता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रियता जिसकी है उसमें अस्तित्व उसी का है। अपना अस्तित्व स्वीकार कर के प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, अपितु जिसने निर्विकारता आदि से अर्थात् अपनी

माँग से भिन्न अपना अस्तित्व स्वीकार किया उसमें आसक्ति हो सकतो है, प्रियता नहीं। आसक्त आसक्ति से भिन्न भी रहता है। किन्तु प्रियता जिसमें होती है उसका अस्तित्व प्रियता नहीं है। आसक्ति और प्रियता में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती जिसमें आसक्ति है और जिसके प्रति आसक्ति होती है उसके काम नहीं आ पाती; कारण, कि आसक्ति भोग की जननी है। कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तु के काम नहीं आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है, किन्तु प्रियता जिसके प्रति होती है उसके लिए रस-रूप होती है और उसका विनाश नहीं करती, अपितु प्रियता अपने को ही प्रियतम से अभिन्न करती है। अत: आसक्ति और प्रियता का भेद स्पष्ट होने पर यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर भोक्ता का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसकी प्रियता रहती है। स्वतन्त्र तथा अविनाशी एवं अनन्त और चिन्मय की प्रियता भी उसी की जाति की है, पर उसका कोई अपना करके अस्तित्व नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि समस्त दृश्य की ममता, कामना एवं तादात्म्य के कारण मुझ में जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों की उत्पत्ति हो गई थी, पर जब विवेक पूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य का अन्त कर दिया तब 'मैं' स्वयं निर्विकार, शान्त, स्वाधीन तथा अपरिच्छिन्न हो गया। अब विचार यह करना है कि यदि निर्विकारता, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता आदि तुम्हीं सब थे तो तुमने ममता, कामना आदि विकारों को क्या स्वीकार किया ? क्या यह कभी सम्भव

है कि कोई स्वाधीन होते हुए पराधीनता, चिन्मय होते हुए जड़ता, पूर्ण होते हुए अभाव, परमशान्त होते हुए अशान्ति और अपरिच्छिन्न होते हुए परिच्छिन्नता को अपनाये ? कदापि नहीं । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसमें आसक्ति आदि दोष हैं, वह उसकी जाति का है जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की थी । आसक्ति और आसक्त-पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । अतः आसक्ति और आसक्त इन दोनों का ही अभाव है । यदि यह स्वीकार न किया जाय, तो आसक्ति आदि दोषों की निवृत्ति की बात सिद्ध नहीं होती और आसक्ति आदि दोषों की किसी को माँग नहीं होती । अतः स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है जिसकी माँग है । उसको स्वीकार न करने पर भी उसकी प्राप्ति है, यह उसकी महिमा है और जिनकी आसक्ति है उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं है, यह उनकी महिमा है । अतः आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता, अगाधप्रियता आदि से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है । 'है' को अस्वीकार करने पर भी उसकी निवृत्ति नहीं होती और 'नहीं' को स्वीकार करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती । प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं, उसी को 'यह' अर्थात् 'नहीं' करके सम्बोधन करते हैं । प्राप्ति है, प्रतीति नहीं, उसी को 'है' करके सम्बोधन करते हैं । 'नहीं' की ममता और 'है' की माँग जिसमें है उसी को 'मैं' करके सम्बोधन करते हैं । ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता । ममता आदि दोषों के रहते हुए ही अहम् का भास होता है । 'यह' कुछ नहीं, 'मैं' कुछ नहीं, यह मानव-

दर्शन से सिद्ध है। अब यदि कोई कहे कि 'यह' कुछ नहीं 'मैं' कुछ नहीं और इन दोनों से भिन्न 'है' भी कुछ नहीं, तो यह अहम् की आवाज़ है, अर्थात् उसकी आवाज़ है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'नही' को 'नहीं' अनुभव करते ही 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है। 'है' का मानना तथा जानना उतना आवश्यक नहीं है जितना प्राप्त करना। मानने और जानने की बात साधन-रूप चर्चा है, जो न मानने तथा न जानने पर भी ज्यों का त्यों है, उसी की प्राप्ति मानव को अभीष्ट है।

४

पथ-विवेचन

जब मिला हुआ और देखा हुआ अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तब स्वभाव से ही बिना जाने हुए में आस्था होती है। आस्था स्वयं श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता के स्वरूप में परिणत हो प्रियता प्रदान करती है। प्रियता जिसमें उदित होती है, उसके लिए तो रस-रूप है ही, पर जिसके प्रति होती है उसे भी रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रियता की बड़ी महिमा है। अब यदि कोई यह कहे कि बिना जाने आस्था कैसी ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जानने पर तो आस्था की अपेक्षा ही नहीं होती; कारण, कि असत् के ज्ञान में असत् की निवृत्ति और असत् की निवृत्ति में सत् की प्राप्ति होती है। अतः आस्था सदैव उसी में होती है कि जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिससे परिचित न हों। इस दृष्टि से आस्था स्वयं एक स्वतन्त्र पथ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि को अधूरा ज्ञान अनुभव करता है। अधूरे ज्ञान से जिज्ञासा जाग्रत होती है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसी में हो सकती है, जिसे कभी भी इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से अनुभव नहीं किया। बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नाश कर स्वतः सम हो

जाती है जिसके सम होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार और कर्त्तव्य-पालन के लिए सामर्थ्य तथा नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। विचार, सामर्थ्य तथा प्रीति के स्वरूप में जिसका अवतरण होता है, वह 'यह' और 'मैं' से भिन्न है। इतना ही नहीं 'यह' और 'मैं' उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी के आश्रय से सत्ता पाते हैं। उसकी प्राप्ति एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन हो सकता है, उसे विषय नहीं कर सकता। इस दृष्टि से यह सब कुछ, अर्थात् 'यह' और 'मैं' जिसका कार्य है वह अपने कारण से अभिन्न हो सकता है, पर उसको विषय नहीं कर सकता। जिसको विषय नहीं कर सकते उसमें आस्था कर सकते हैं। इस दृष्टि से आस्था स्वतन्त्र पथ है।

यह सभी को मान्य होगा कि कोई भी उत्पत्ति अनुत्पन्न तत्व के बिना हो नहीं सकती और कोई भी प्रतीति बिना किसी प्रकाशक के प्रतीत नहीं हो सकती। इस कारण समस्त विश्व की उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न तत्व है और प्रतीति का प्रकाशक है पर, उसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा। जिसे देखा तो नहीं है, पर उसकी माँग है, इस कारण बिना जाने हुए में आस्था अनिवार्य है।

जब मानव अपने में किसी न किसी प्रकार का अभाव अनुभव करता है और उस अभाव का अभाव किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा नहीं होता, तब विवश होकर उसमें आस्था करता है, जो अभाव के अभाव में

समर्थ है; कारण, कि माँग उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर उसका अनुभव नहीं है। अतः उसमें आस्था अनिवार्य है।

संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में क्या कोई परिस्थिति समर्थ है ? कदापि नहीं। क्या संयोग की दासता तथा वियोग का भय मानव की समस्या नहीं है ? अवश्य है। क्या वह समस्या हो सकती है, जिसका हल न हो ? कदापि नहीं। यदि समस्या है, तो उसका हल भी है। इस समस्या के हल करने के लिए सुने हुए में आस्था करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यद्यपि संयोग में वियोग और वियोग में अभाव का विचारपूर्वक अनुभव करने में नित्य-योग की प्राप्ति होती है, परन्तु वह विचार किस की देन है ? इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट विदित होता है कि मानव की माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री जिससे प्राप्त होती है, वह सभी का अपना है; उसके न मानने तथा न जानने पर भी उसकी अहैतुकी कृपा स्वतः वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से भी यह विदित होता है कि कोई अपना है, जिसे हम नहीं जानते पर जो हमें जानता है। उसमें आस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी विश्वास त्याज्य है। पर विश्वास के लिए यह आवश्यक नहीं है, कि विवेक का समर्थन हो। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि का विश्वास विवेक-विरोधी है; कारण, कि उत्पत्ति-विनाश का क्रम सतत् है। उसकी स्थिति ही नहीं है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उसमें विश्वास करना 'भूल है। पर जो उत्पत्ति-विनाश का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसमें अविचल आस्था रखना विवेक-विरोधी नहीं है। इतना ही नहीं, विवेकरूपी प्रकाश जिससे मिला है, उसका समर्थन

विवेक-सिद्ध नहीं है। अतः विवेक-विरोधी विश्वास को त्याग वास्तविक आस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। वास्तविक आस्था उसी में हो सकती है जिसकी माँग तो है पर, उसे इन्द्रिय, बुद्धि-दृष्टि आदि से देखा नहीं है।

कोई भी मिल्कियत बे मालिक की और कोई उत्पत्ति बिना आधार के नहीं होती। तो फिर विश्व का कोई मालिक नहीं है तथा उत्पत्ति का कोई आधार नहीं है, यह कैसे हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें यदि कोई आस्था न करे, अथवा उसे कोई न माने तब भी वह सभी का अपना है। पर अपने में आस्था न करना, सनाथ होने पर भी क्या अपने को अनाथ नहीं करना है ? क्या यह अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। अपना होने से ही अपने को प्रिय है। हम उसे जानें, न जानें इससे कोई अन्तर नहीं होता। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है। प्रियता की जाग्रति में नीरसता का नाश है, नीरसता के नाश होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है; कारण, कि समस्त विकार नीरसता की भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। नीरसता का अत्यन्त अभाव एकमात्र प्रियता में ही निहित है और प्रियता आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही होती है। इस दृष्टि से आस्था सर्वतोमुखी विकास में समर्थ है।

समस्त विश्व किसी की ओर दौड़ रहा है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही गतिशील है। गतिशीलता में किसी का आकर्षण है। सभी का आकर्षण उसी के प्रति हो सकता है जो 'है'। इस दृष्टि से भी 'है' को न जानने पर भी 'है' में आस्था होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मानव का यह अपना अनुभव है कि

उसकी कोई माँग है। वह प्रमादवश भले ही उस माँग को अनेक कामनाओं में बदलने का प्रयास करे, किन्तु ऐसी कोई भी इच्छित वस्तु नहीं है जिससे अरुचि न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस रुचिकर की मांग है उसे इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि आदि से देखे हुए रुचिकर पदार्थों से स्वतः उपरामता आती है और माँग शेष रहती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि माँग उसी की है जिसे जानते नहीं अतः उसमें आस्था अनिवार्य है। 'नहीं' की माँग नहीं होती। न हो और प्रतीत हो, उसमें आसक्ति होती है, उसकी कामना होती है। किन्तु माँग उसकी होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतः जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, यद्यपि उसे देखा नहीं है, परन्तु उसमें आस्था करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं में जो सौन्दर्य प्रतीत होता है वह किसी कारीगर की महिमा गाता है। यदि वस्तुओं का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य होता, तो उनमें परिवर्तन न होता। सतत् परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं को किसी से सौन्दर्य मिला है। मानव प्रमादवश सौन्दर्य को वस्तुओं में आरोप कर लेता है और परिणाम में वस्तुओं की दासता में आबद्ध होता है। वस्तुएँ मिट जाती हैं, दासता रह जाती है, जो किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि के आधार पर भी उस अनन्त सौन्दर्य में आस्था हो सकती है, जिससे सभी को सौन्दर्य मिलता है। मिले हुए सौन्दर्य में आबद्ध होना अनन्त सौन्दर्य से विमुख होना है। अनन्त सौन्दर्य की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो स्वभाव से ही उसमें आस्था होती है, जिसे देखा नहीं, पर जिसकी माँग है।

अनन्त सौन्दर्य से विमुख होकर ही मानव सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध होता है, जो विनाश का मूल है। सतत् गतिशीलता यह सिद्ध करती है कि वह किसी से मिलने के लिए आकुल-व्याकुल है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि किसी अपरिचित की ओर तीव्र गति से जा रही है। यदि उसमें मानव आस्था करले तो बड़ी सुगमतापूर्वक उसकी प्रियता होकर उससे अभिन्न हो सकता है। खोज करते-करते जब तक खोज-कर्ता अपने को खो नहीं बैठता, तब तक उससे अभिन्न नहीं होता जिसे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है; कारण, कि खोज में मिली हुई सीमित शक्तियों का अभिमान रहता है, जिसके रहते हुए असीम तथा अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है। आत्मीयता से जाग्रत प्रियता अभिमान का अन्त कर वास्तविकता से अभिन्न कर देती है, जो आस्था-मात्र से ही साध्य है।

जब तक मानव अपने देह-जनित सीमित स्वभाव में आबद्ध रहता है, तब तक उसे बिना देखे में आस्था नहीं होती, किन्तु देह आदि वस्तुओं की वास्तविकता जान लेने पर जब मानव देह-जनित स्वभाव से अपने को असन्तुष्ट पाता है, तब उसे विवश होकर उसमें आस्था करनी पड़ती है कि जिसे देखा नहीं है। यदि ऐसा न होता तो दुःख, पराधीनता, जड़ता तथा अभाव से पीड़ित प्राणी उस अलौकिक जीवन की माँग ही न करता जिसे देखा नहीं है। माँग उसी की होती है जिसे देखा नहीं है और कामना उसकी होती है जिसे देखा है। माँग पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है और कामना पराधीनता में आबद्ध रखती है। इस दृष्टि से कामना और माँग में भेद है।

कामनाओं से भिन्न माँग का होना, इस बात को सिद्ध करता है कि इच्छित वस्तुओं से अतीत भी कोई अपना है। अपने में अपनी आस्था न करना अपनी ही भारी भूल है। कामना-रहित होते ही स्वतः उसकी ओर प्रगति होती है जो सृष्टि का उद्गम है। सृष्टि का मूल बीज अहम् है। उसी में माँग है। माँग की पूर्ति जिससे होती है, वही सभी का सब कुछ है और उसी में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। आत्मीयता अहम् को अगाधप्रियता में परिणत कर देती है और फिर प्रियता से अभिन्न हो मानव उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता है जिसमें उसने आस्था की है।

आस्था अपने प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होती है और विचार अपने लिए उपयोगी होता है। विचार-पथ का पथिक पराधीनता, जड़ता, अभाव से रहित हो; स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता को प्राप्त कर कृत-कृत्य होता है। किन्तु आस्थापूर्वक मानव उसके लिए उपयोगी होता है जिसने विचार प्रदान किया है। वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का दाता जो है, उसी में आस्था करना है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग अपने लिए हितकर है और आस्था उनके लिए हितकर है जिन्होंने सभी को सब कुछ प्रदान किया है, अर्थात् अपने दाता के लिए वही उपयोगी होता है जो अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक दाता में आत्मीयता स्वीकार करता है। यह सभी को स्पष्ट विदित है कि मिली हुई कोई भी वस्तु किसी की व्यक्तिगत नहीं है। जब व्यक्तिगत नहीं है, तब उसका कोई दाता है। मिली हुई वस्तुओं में ममता करना और दाता को अपना न मानना, यह कहाँ तक न्याय युक्त है? वास्तविकता तो यह है कि दाता अपना है, वस्तुएँ उसकी हैं। उसकी दी हुई वस्तुओं के द्वारा ही विश्व की सेवा

होती है और आत्मीयता के द्वारा ही दाता में प्रीति होती है। सेवा मानव को जगत् के लिये और प्रीति जगत्-पति के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा और प्रीति की अभिव्यक्ति होने पर कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता; कारण, कि समस्त कर्तव्यों की परावधि सेवा में और समस्त प्राप्ति की पराकाष्ठा प्रीति में निहित है। प्रीति के समान और कोई अलौकिक महान् तत्त्व नहीं है; कारण, कि प्रीति मानव को विभु कर देती है। महान् की प्रीति महान् को मोहित करती है, इस दृष्टि से प्रीति के समान और कोई अनुपम अलौकिक तत्त्व नहीं है, जो एकमात्र आस्था से ही साध्य है। करने और पाने का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव स्वतः नाश हो जाता है; कारण, कि करने, पाने का प्रलोभन ही परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस दृष्टि से सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अचाह तथा अप्रयत्न हुए बिना आस्था सजीव नहीं होती; कारण, कि कामना तथा अहङ्कृति-युक्त मानव उसमें आस्था कर ही नहीं पाता जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व है। क्या किसी ने उसको जाना है जो उसका प्रकाशक तथा आश्रय है? कदापि नहीं। पर प्रत्येक मानव उसे प्राप्त कर सकता है, जो उसका आधार तथा प्रकाशक है। उसकी प्राप्ति उसकी प्रियता में ही निहित है, जिज्ञासा में नहीं। जिज्ञासा उसका बोध कराती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ज्ञान असत् का होता है। प्राप्ति सत् की होती है। अतः आस्थापूर्वक ही आत्मीयता प्राप्त होती है, जो प्रियता की जाग्रति में हेतु है और प्रियता ही एकमात्र उसकी प्राप्ति का साधन है, जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न है, यद्यपि प्रत्येक उत्पत्ति उसी से सत्ता पाती है, जिससे

वह उत्पन्न हुई है। इतना ही नहीं, वह सदैव रहती भी उसी में है फिर भी उसे नहीं जानती। किन्तु माँग उसी की रहती है। इस कारण आस्थापूर्वक ही उसे प्राप्त किया जा सकता है जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है तथा जो सर्व है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'नहीं' की निवृत्ति में विचार और 'है' की प्राप्ति में आस्था ही समर्थ है। 'नहीं' की निवृत्ति अपने लिए हितकर है पर 'है' की आस्था 'है' के लिए उपयोगी है। 'नहीं' की निवृत्ति करने के लिए उसी 'है' से मानव को विचार मिला है और उसी ने आस्था दी है। 'है' की दी हुई आस्था से ही 'है' में आत्मीयता और 'है' के दिये हुए विचार से ही 'नहीं' की निवृत्ति होती है। 'नहीं' की निवृत्ति होने पर दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति और स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है, जो अपने लिए उपयोगी है। जो मानव केवल अपने लिए ही उपयोगी होना चाहता है, उसे आस्था करना आवश्यक नहीं है। आस्था एकमात्र उन्हीं के लिए अपेक्षित है जो अपने को दाता के लिए उपयोगी करना चाहते हैं, अर्थात् जिसने सभी को सब कुछ दिया है उसके लिए उपयोगी होने की उत्कट लालसा जिनमें है, वे ही मानव आस्था के अधिकारी हैं।

अपने लक्ष्य का निर्णय होने पर ही अपने पथ का निर्माण होता है। लक्ष्य की विस्मृति विकल्प-रहित पथ का निर्माण नहीं होने देती। वर्तमान वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान लक्ष्य के निर्णय में समर्थ है। जिस मानव ने यह अनुभव किया है कि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, वही दुःख-निवृत्ति, शान्ति और स्वाधीनता को अपना लक्ष्य मानता है। पर जिसे स्वाधीनता भी चैन नहीं दे पाती, वही

दाता के लिए उपयोगी होने के लिये बिना जाने ही उनमें अवि-चल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करता है। अथवा यों कहो कि प्राप्त शान्ति, स्वाधीनता को समर्पित कर वह आस्था पाता है। इस दृष्टि से आस्था बड़े ही महत्त्व की वस्तु है।

बुद्धिवादी, अर्थात् बुद्धि के दास आस्था के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाते, अपितु बुद्धि जिनकी दासी है, वे ही आस्था के पथ के पथिक होते हैं। बुद्धि उन्हीं की दासी होती है, जो शान्ति में रमण नहीं करते और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होते। इस दृष्टि से आस्था का साम्राज्य बुद्धि से परे है। बुद्धि का क्षेत्र प्रतीति की ओर गतिशील होने में है। जब मानव विषयों से विरक्त होता है तब बेचारी बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। विषयासक्ति के रहते हुए ही बुद्धि का शासन मन, इन्द्रियों आदि पर रहता है। आसक्ति-रहित होते ही मानव बुद्धि से शासित नहीं रहता। जब मन बुद्धि के अधीन होता है, तब इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन में विलीन होती हैं और फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है। तत्पश्चात् बुद्धि के लिये कोई भी कार्य नहीं रह जाता और वह स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि की समता सामर्थ्य की प्रतीक है। जिज्ञासु में विचार का उदय और आस्थावान में प्रीति की जाग्रति बुद्धि के सम होने पर ही होती है। बुद्धि करण है, कर्त्ता नहीं। उसका उपयोग किया जाता है। बुद्धि के उपयोग से मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होता है अर्थात् इन्द्रिय-जनित प्रभाव शेष नहीं रहता। बस, यहीं तक बुद्धि का क्षेत्र है। आस्था 'स्व' के द्वारा होती है उसके लिये कोई करण अपेक्षित नहीं है। आस्था अपने को करनी है, उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की

अपेक्षा नहीं है। अपितु आस्था का प्रभाव स्वतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है; कारण, कि करण कर्त्ता पर ही आश्रित रहते हैं। कर्त्ता के शुद्ध होने पर करण स्वतः शुद्ध हो जाते हैं। और फिर कार्य में भी शुद्धता आ जाती है। कार्य, करण और कर्त्ता में कर्त्ता का ही चमत्कार है। जिसने आस्था स्वीकार की है, वह कोई करण नहीं है, अपितु कर्त्ता है। ज्यों-ज्यों कर्त्ता निर्मम तथा निष्काम होता जाता है त्यों-त्यों उसमें सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग जाग्रत होती जाती है। अवस्था आदि से परे के जीवन में आस्था तथा उसकी आवश्यकता उसकी प्राप्ति से पूर्व ही होती है। जिज्ञासा उसके सम्बन्ध में नहीं होती, जिसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते, अर्थात् अधूरी जानकारी में ही सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जाग्रति होती है। इस दृष्टि से जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से गोचर है उसी के प्रति जिज्ञासा होती है और जो इन्द्रिय आदि से अगोचर है, उसमें आस्था होती है। दृश्य की वास्तविकता का बोध दृश्य से विमुख कर दृश्य के उद्‌गम से अभिन्न करता है और दृश्य से अतीत के जीवन की माँग मानव में आस्था जाग्रत करती है। उसमें कभी आस्था नहीं होती जिसकी माँग नहीं है। उसमें कभी सन्देह नहीं होता, जिसकी प्रतीति तथा भास नहीं है। अतः माँग की पूर्ति आस्था में ही निहित है और निस्संदेहता जिज्ञासा की जाग्रति में। जिज्ञासा उसकी नहीं है जिसकी माँग है। जिज्ञासा तो प्रतीति और भास के प्रति ही होती है। समस्त परिवर्तनशील जगत् प्रतीति के अन्तर्गत है और सीमित अहम्-भाव का भास है। अतः जगत् और अपने सम्बन्ध में ही जिज्ञासा होती है। जिसकी माँग है और जो जगत् से अतीत है उसी में आस्था होती

है। उससे भिन्न की आस्था आसक्ति की जननी है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आस्था एकमात्र उसी में हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो सदैव अपना है और जिसकी प्रियता ही अपना जीवन है, वही श्रद्धास्पद है।

जिसमें किसी प्रकार के दोष की अनुभूति होती है, उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास सम्भव नहीं है। अब यह विचार करना है कि दोष का दर्शन किस में नहीं होता। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दोष की अनुभूति उसी में नहीं होती जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है और जिसकी माँग है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपनी माँग की पूर्ति जिससे साध्य है, उसी में आस्था होती है। जो मानव अपनी माँग से अपरिचित है, उसमें आस्था का प्रादुर्भाव नहीं होता। अपनी माँग से वही अपरिचित है, जो परिस्थितियों में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि वही स्वीकार करता है, जो वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित रहता है। वर्तमान वस्तुस्थिति से वही अपरिचित रहता है जो जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं है, अपितु देखे हुए तथा किये हुए में ही आसक्त है। देखे हुए तथा किये हुए की आसक्ति मानव को जड़ता में आबद्ध करती है। जाने हुए का प्रभाव देखे हुए में संदेह और किये हुए के परिणाम का बोध कराने में समर्थ है। देखे हुए का सन्देह जिज्ञासा-जाग्रति में हेतु है और किये हुए के परिणाम का प्रभाव उसकी ओर गतिशील करता है जो नित्य-प्राप्त है और उसी में आस्था होती है।

जिसकी अभिन्नता कर्म-सापेक्ष नहीं है, उसकी अभिन्नता के लिये आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता ही समर्थ है।

जड़ता, पराधीनता का अभाव विचार साध्य है जो अपने लिये उपयोगी है; परन्तु विचार जिसकी देन है, आस्था उसी से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था उसके लिये उपयोगी है, जिससे सभी को सब कुछ मिलता है, अर्थात् कर्मनिष्ठ को कर्म सामग्री, मोक्षार्थी को विचार जिससे प्राप्त है उसको रस देने के लिये आस्था ही समर्थ है।

आस्था का उपयोग कामनापूर्ति तथा निवृत्ति में करना आस्था का दुरुपयोग है। आस्था का सदुपयोग एकमात्र आत्मीयतापूर्वक प्रियता की जाग्रति में ही है। प्रियता की जाग्रति आत्मीयता के अतिरिक्त किसी और प्रकार सम्भव ही नहीं है। जिसकी प्राप्ति किसी अन्य साधन से सम्भव ही नहीं है, उसी की प्राप्ति के लिये आस्था अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष तथा विवेक-सिद्ध है उसके लिये आस्था आवश्यक नहीं है; कारण, कि कर्म सामग्री और विवेक मानव को बिना ही माँगे प्राप्त है और आस्था का उपयोग एकमात्र प्रेम के प्रादुर्भाव में ही निहित है। इस दृष्टि से आस्था को सजीव तथा सुरक्षित रखने के लिये निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है, जो एकमात्र विचार से ही साध्य है। अतः परम-शान्ति तथा निर्विकारता की भूमि में ही आस्था पोषित होती है।

अब विचार यह करना है कि आस्था की जीवन में आवश्यकता ही क्यों है ? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग कर्म-सापेक्ष है और निर्विकारता तथा शांति, निर्ममता एवं निष्कामता से साध्य है और स्वाधीनता एकमात्र असंगता से सिद्ध है। अतः जिसे इनकी माँग है, उसके लिए आस्था आवश्यक नहीं है;

कारण, कि ये सारी बातें मानव को स्वत: प्राप्त हैं, अर्थात् भोग के लिए कर्म-सामग्री और निष्कामता, निर्ममता एवं असंगता के लिए विवेक-शक्ति। किसी बिना जाने, किन्तु सुने हुए में आस्था तो वही कर सकता है जिसने इस बात पर विचार किया हो कि वह कौन है जिसने सब कुछ दिया है, जो हमें जानता है, पर हम जिसे भले ही न जानते हों, उसी में आस्था होती है। आस्था का उपयोग भोग, मोक्ष की प्राप्ति में नहीं है; कारण, कि जो प्रयत्न-साध्य है उसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। सुख की आशा का त्याग करने पर दुःख-निवृत्ति स्वत: होती है। अत: दु:ख का अन्त करने के लिए भी आस्था अपेक्षित नहीं है; कारण, कि सुख की आशा रखते हुए किसी भी प्रकार दु:ख की निवृत्ति नहीं होती। निज-विवेक के आदर में ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता निहित है। विवेक का आदर बिना किए कोई भी निर्मम, निष्काम तथा असंग नहीं हो सकता। अत: जो विवेक से साध्य है, उसके लिए भी आस्था अपेक्षित नहीं है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आस्था केवल उसी के लिए अपेक्षित है, जिसने सब कुछ दिया है। उसको रस आस्था, श्रद्धा विश्वास-पूर्वक ही मिल सकता है। अत: एकमात्र आत्मीयता की जाग्रति के लिए ही आस्था अपेक्षित है। अब यदि कोई यह कहे कि उसे रस देने की क्या आवश्यकता है ? इस समस्या पर विचार करने से यह निस्सन्देह सिद्ध है कि जिसने सब कुछ दिया है उसे किसी से कुछ नहीं लेना है, पर क्या यह अपने को उचित मालूम होता है कि जिससे सब कुछ पाया हो उसे अपना तक न मानें ? अपना माने बिना क्या कोई उसके ऋण से मुक्त हो सकता है, जिससे सब कुछ मिला है ? यद्यपि उस दाता ने किसी को ऋणी नहीं बनाया है, परन्तु अपने को कभी सन्तोष नहीं हो सकता कि

जिससे सब कुछ पाया हो वह अपना प्यारा न रहे। आत्मीयता के बिना क्या किसी अन्य प्रकार से स्वाभाविक अखण्ड, अगाध, प्रियता जाग्रत हो सकती है ? कदापि नहीं और क्या बिना जाने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना आत्मीयता हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिए आस्था अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो किसी से कुछ नहीं मिला, सब अपना ही है। यदि यह निर्णय युक्ति-युक्त है तो फिर पराधीनता, जड़ता, अभाव में आबद्ध क्यों रहे ? क्या कोई स्वाधीन होकर पराधीनता पसन्द करेगा ? वह भी ऐसी पराधीनता जिसमें सुख की दासता तथा दुःख का भय हो ? हाँ, उस दाता के देने का ढंग अनुपम तथा अद्वितीय है कि जिसे वह जो कुछ देता है, उसे वह अपना ही प्रतीत होता है। इस उदारता का दुरुपयोग करना कहाँ तक न्याययुक्त है, मानव स्वयं विचार करे। दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होने पर यद्यपि अपने लिए कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता, परन्तु पराधीनता आदि से जिसने रहित किया, क्या उसकी आत्मीयता स्वीकार करने पर शान्ति, स्वाधीनता आदि मिट जाएगी ? कदापि नहीं। अपितु स्वाधीनता सुरक्षित रहते हुए अगाध, अनन्त, नित-नव-रस की अभिव्यक्ति होगी; कारण, कि प्रियता निवृत्ति, पूर्ति से रहित है। दुःख, अशान्ति, पराधीनता, जड़ता आदि की निवृत्ति होती है और शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की पूर्ति होती है, किन्तु प्रियता तो निवृत्ति, पूर्ति से रहित विलक्षण है; कारण, कि उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है, क्षति, निवृत्ति, पूर्ति नहीं होती। शान्ति, स्वाधीनता आदि

की नित-नव वृद्धि नहीं होती। यद्यपि शान्ति और स्वाधीनता भी अखण्ड, अविनाशी तथा चिन्मय हैं, पर प्रियता का रस तो अनन्त है। इतना ही नहीं, शान्ति और स्वाधीनता के आश्रित अहम्-रूपी अणु रह सकता है, किन्तु प्रियता में तो अहम् की गन्ध भी नहीं रहती अर्थात् एकदेशीयता का अत्यन्त अभाव प्रियता में ही निहित है; कारण, कि प्रियता में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह प्रियता है। प्रियता ही उसे रस दे सकती है, जो सब प्रकार से पूर्ण है। कारण कि प्रियता सभी को भाती है और उससे अरुचि तथा तृप्ति नहीं होती। अत: जिसने सभी को सब कुछ दिया है, उसकी प्रियता ही उसे रस देती है। प्रियता से अभिन्नता मानवमात्र की हो सकती है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से ही साध्य है। प्रियता का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। चाह-रहित हुए बिना मानव प्रियता का अधिकारी नहीं होता; कारण, जो कुछ भी चाहता है उसमें प्रीति की जाग्रति ही नहीं होती। इतना ही नहीं, जो अपने में अपना करके कुछ पाता है, उससे भी प्रियता जाग्रत नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम् का नाश भी प्रियता-जाग्रति के लिए अनिवार्य हो जाता है। अत: प्रियता प्राप्त करने के लिए सेवा और त्याग तथा आस्थापूर्वक आत्मीयता अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि आस्थापूर्वक आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से अभिन्न होने पर सेवा और त्याग स्वाभाविक हो जाता है और सेवा तथा त्याग को अपना लेने पर मानव प्रियता का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पथ तथा विचार-पथ से भी आस्था के पथ में प्रवेश होता है और आस्था का पथ अपना लेने पर भी विचार-पथ तथा कर्त्तव्य-पथ स्वत: प्राप्त होता है; कारण,

कि प्रियता की अभिव्यक्ति में सभी पथ एक हो जाते हैं। प्रियता की जाग्रति श्रम-साध्य नहीं है। एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता पर-धर्म नहीं है, अर्थात् शरीर आदि का धर्म नहीं है, अपने ही द्वारा आत्मीयता स्वीकार की जाती है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास में ही निहित है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी किसी अन्य के द्वारा सिद्ध नहीं होते, अपितु अपने ही को आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जो स्वाधीनता-पूर्वक अपनायी जाती है वही आस्था है। आस्था का आरम्भ अपने ही द्वारा होता है। विश्वासियों के सम्पर्क से आस्था पोषित होता है। इस कारण आस्था को अपनाने में 'पर' की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि ममता, कामना आदि का त्याग भी अपने ही द्वारा होता है, पर उसके लिए विचार का प्रकाश अपेक्षित है। बिना जाने हुए पर विचार का उपयोग हो नहीं सकता। अतः आस्था तो एकमात्र अपने ही द्वारा अपनायी जा सकती है। आस्था किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में रखना भूल होगी। आस्था का अर्थ है किसी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना। इस कारण आस्था देखे हुए तथा मिले हुए में हो ही नहीं सकती, अपितु उसी में हो सकती है जिसे देखा नहीं है। बिना देखे की आस्था किसी प्रकार की क्षति नहीं कर सकती; कारण, कि आस्था से तो श्रद्धा, विश्वास की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रद्धा, विश्वास सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है जो प्राप्ति, प्रियता एवं परिचय में हेतु है।

प्रियता अपने प्रेमास्पद में किसी गुण की अपेक्षा नहीं रखती; कारण, कि गुणों के आश्रित प्रियता तो अपने रस में

हेतु है। प्रियता एकमात्र प्रियतम को रस देती है; अत: वे चाहे जैसे हैं, चाहे जहाँ हैं, चाहे कुछ करें, पर अपने होने-मात्र से ही अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यद्यपि प्रियता के लिए मिलन और वियोग कुछ अर्थ नहीं रखता, तथापि कोई जाने न जाने, प्रियतम का प्रियता में ही नित्य वास है। सारी सृष्टि जिसके किसी एक अंश-मात्र में है वह प्रियता में है। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त है। फिर भी उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; कारण, कि प्रियता अभिन्नता से ही उदित होती है। योग, बोध आदि अनन्त की विभूतियाँ हैं, पर वे अनन्त को रस नहीं दे पातीं। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त की वह अनुपम विभूति है जो अनन्त को मोहित करने में समर्थ है, जो एकमात्र अविचल आस्था से ही साध्य है। करुणा, मुदिता आदि प्रियता के ही रूपान्तर हैं। इतना ही नहीं, नित-नव रस की अभिव्यक्ति प्रियता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी न किसी की आस्था मानव-मात्र में स्वभाव से रहती है। पर विचार यह करना है कि क्या देखे हुए में आस्था है, अथवा उसमें है जिसे नहीं देखा। देखे हुए को आस्था ममता उत्पन्न करती है, जो विकारों का मूल है। देखे हुए की तो वास्तविकता का अनुभव करना है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसी में को जा सकती है, जिसकी प्रियता अपने को अभीष्ट हो। प्रियता उसी की अभीष्ट हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता न हो। उत्पन्न हुई वस्तुओं से मानव की मानी हुई एकता हो सकती है, जातीय नहीं; कारण, कि उत्पत्ति-विनाश का क्रम सतत् परिवर्तनशील होने के नाते देखे हुए की अविचल स्थिरता ही सिद्ध नहीं होती, तो फिर उसमें आस्था करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अर्थात् कुछ नहीं।

इस दृष्टि से आस्था सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में ही हो सकती है और उसी के नाते सर्व की सेवा की जा सकती है। सुने हुए की आस्था देखे हुए से असंग करने में समर्थ है। देखे हुए की असंगता देखे हुए की वास्तविकता के बोध में हेतु है। इस कारण देखे हुए की वास्तविकता के परिचय में भी आस्था समर्थ है। देखे हुए का परिचय होने पर भी जिसे नहीं देखा है उसकी अभिन्नता में आस्था हेतु है। इस दृष्टि से विचार की पूर्णता में आस्था और आस्था की पूर्णता में विचार निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था अथवा विचार को स्वतन्त्र रूप से अपनाया है, अर्थात् साधन-रूप आस्था में साधन-रूप विचार और साधन-रूप विचार में साधन-रूप आस्था को नहीं मिलाया है। साधन-रूप आस्था का अर्थ है कि जिसे देखा नहीं है पर सुना है और उसकी आवश्यकता भी अनुभव होती है, उसमें विकल्प रहित आस्था करना। विकल्प रहित आस्था, श्रद्धा, विश्वास की जननी है। विश्वास में आत्मीयता और आत्मीयता से प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी भेद और भिन्नता का अन्त कर देती है और फिर साधन-रूप आस्था साध्य-रूप आस्था में परिवर्तित हो जाती है। साध्य-रूप आस्था में योग, बोध और प्रेम निहित है, जो मानव की वास्तविक माँग है। यदि स्वभाव से ही आस्था प्रिय न हो, तो आस्था के पथ का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है। सन्देह की वेदना रहते हुए आस्था का पथ सहज तथा सुलभ नहीं है। सन्देह की निवृत्ति जिज्ञासा की जाग्रति तथा विचार की अभि-व्यक्ति से ही सम्भव है। आस्था के लिए प्रमाण सहयोगी साधन भले ही हो, साक्षात् साधन नहीं है। आस्था की अभिरुचि यदि बीज रूप से विद्यमान है, तो आस्था करना सहज होगा। जिसे

आस्था स्वभाव से प्रिय न हो, उसे अपना निरीक्षण करना चाहिए कि क्या मेरी किसी में आस्था नहीं है। देखे हुए में आस्था करने से परिणाम हितकर न होगा; कारण, कि देखे हुए से अभिन्नता सम्भव नहीं है। जिससे अभिन्नता सम्भव नहीं है उसकी आस्था ममता, कामना, तादात्म्य आदि विकारों को ही उत्पन्न करती है। देखा हुआ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रतीति है, उसमें प्रवृत्ति तो होती है परन्तु प्राप्ति नहीं होती। अभाव की अनुभूति देखने की रुचि को नाश कर देती है और फिर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि दृष्टियाँ अपने उद्गम में विलीन हो जाती हैं जिसके होते ही स्वतः विचार का उदय होता है जो वास्तविकता से अभिन्न कर देता है और फिर स्वतः उसमें आस्था हो जाती है जो देखा हुआ नहीं था, अपितु सुना था। सर्वांश में जान लेने पर आस्था की आवश्यकता नहीं रहती और देखा हुआ प्राप्त नहीं होता। इस कारण एकमात्र उसी में आस्था होती है जो देखा हुआ, जाना हुआ नहीं है, अपितु जिसे सुना है। सुने हुए का अर्थ शब्द मात्र नहीं है, अर्थात् जो अगोचर है वही सुना हुआ है और उसी की आस्था वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था भी स्वतन्त्र पथ है।

५

कर्त्तव्य-विवेचन

प्रत्येक मानव में स्वभाव से कुछ न कुछ करने की रुचि विद्यमान है और उसकी पूर्ति के लिये वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त है। कर्त्तव्य का प्रश्न किसी अप्राप्त की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु कर्त्तव्य का सम्पादन प्राप्त परिस्थिति में ही निहित है। कर्त्तव्य का प्रश्न 'पर' के प्रति है 'स्व' के प्रति नहीं। कर्त्तव्य का सम्पादन, जो 'पर' से प्राप्त है उसके द्वारा होता है, 'स्व' के द्वारा नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य पर-धर्म है। जो प्रवृत्ति पर-हित में हेतु नहीं है, वह कर्त्तव्य नहीं है। जिसे किसी का भी अहित सह्य है, वह कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कर्त्तव्य कर्त्ता का चित्र है, जिसकी माँग जगत् को है, अर्थात् कर्त्ता कर्त्तव्य होकर जगत् से अभिन्न होता है। कर्त्तव्य के अभाव में ही 'भेद', 'भिन्नता' तथा 'संघर्ष' पोषित होता है जो विनाश का मूल है। कर्त्तव्य विज्ञान है, कल्पना नहीं। जो कुछ किया जाता है, उसका परिणाम स्वतः कर्त्ता के प्रति होता है। इसी कारण अहित-कर प्रवृत्तियाँ सर्वथा त्याज्य हैं। जो प्रवृत्ति पराधीनता, जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती है, वही अहितकर है। कर्त्तव्य परायणता में पराधीनता की गन्ध भी नहीं है; कारण, कि जो नहीं करना चाहिये तथा जो नहीं कर सकते, वह कर्त्तव्य नहीं है। अहितकर और अनावश्यक कार्य का त्याग करने पर ही कर्त्तव्य-परायणता

की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य का ज्ञान और सामर्थ्य सभी में विद्यमान है, परन्तु अनावश्यक तथा अहितकर चेष्टाओं से कर्त्तव्य की विस्मृति तथा कर्त्तव्य पालन में असमर्थता अनुभव होती है। इस कारण कर्त्तव्य-पालन से पूर्व ही यह भली-भाँति अनुभव करना है कि क्या नहीं करना चाहिये और क्या नहीं कर सकते। जो प्रवृत्ति स्वाधीनता से पराधीनता की ओर गतिशील करती है उसे नहीं करना है। कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्य का सम्बन्ध पर-हित में है। पर जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपता से प्रेरित होकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तब कर्त्तव्य की वास्तविकता से अपरिचित हो जाता है और पराधीनता आदि दोषों में आबद्ध होता है जो किसी भी मानव को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है।

उत्पन्न हुई शरीर आदि वस्तुओं का तादात्म्य तथा सीमित अहम्‌भाव में आरोपित स्वीकृति ही प्रवृत्ति की जननी है। देह का तादात्म्य इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप कर देता है। इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप प्राणी सुख-लोलुपता में आबद्ध होता है, जो अकर्त्तव्य की जननी है। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्त्तव्य कर्त्ता को द्वन्द्वात्मक स्थिति में बाँध देता है। द्वन्द्वात्मक स्थिति के रहते हुए बेचारा मानव दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है, जो ह्रास का मूल है। अकर्त्तव्य का अन्त करने पर ही कर्त्तव्य-परायणता आती है, जो पारस्परिक एकता की जननी है। एकता सुरक्षित रहने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है जो सभी के लिये हितकर है। पारस्परिक संघर्ष का कारण एक-मात्र कर्त्तव्य-विज्ञान से अपरिचित होना है। यह सभी को मान्य है कि अपने प्रति अकर्त्तव्य किसी

को अभीष्ट नहीं है तो फिर अकर्त्तव्य का मानव-जीवन में स्थान ही क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं। कर्त्तव्य-पालन उतना आवश्यक नहीं है जितना अकर्त्तव्य का त्याग; कारण, कि अकर्त्तव्य का त्याग बिना किये कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। जो नहीं करना चाहिये उसके न करने पर दो ही अवस्थाएँ स्वतः आती हैं; सही करना अथवा न करना। सही करने से पारस्परिक एकता और न करने से देहाभिमान का नाश स्वतः होता है। इस दृष्टि से सही करना जगत् के लिये और न करना अपने लिये उपयोगी है। न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है। जो करने योग्य है उसे बिना किये किसी को भी विश्राम नहीं मिल सकता और विश्राम के बिना कोई भी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाता। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु किए हुए की फलासक्ति अपने लिये अभीष्ट नहीं है, इसका कर्त्तव्य-पालन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्त्तव्य-परायणता वह विज्ञान है जिससे मानव जगत् के लिये उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है; कारण, कि कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। राग-रहित हुए बिना कोई भी मानव सर्वतोमुखी विकास में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है। कर्त्तव्य का अर्थ प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का पर-हित में व्यय करना है। अपना हित एकमात्र राग-रहित होने में ही निहित है। जो मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि के द्वारा व्यक्तिगत सुख-सम्पादन करता है, वह कभी भी कर्त्तव्य की वास्तविकता से परिचित नहीं हो सकता। कर्त्तव्य की वास्त-

विकता एकमात्र पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने में है। वह तभी सम्भव होगा जब यह अनुभव करें कि मिला हुआ अपने लिये नहीं है। कर्त्तव्य-पालन की सामग्री मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध किसी अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि से नहीं है, इसी कारण कर्त्तव्य-पालन प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने में कोई भी मानव, कभी भी, किसी भी परिस्थिति में असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है; कारण, कि कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से किसी को भी वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता। तो फिर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। अकर्त्तव्य के रहते हुए ही कर्त्तव्य में पराधीनता भासित होती है। वास्तव में कर्त्तव्यपालन में पराधीनता की गंध भी नहीं है। कर्त्तव्यपालन का परिणाम यदि किसी अप्राप्त परिस्थिति का प्राप्त करना होता, तब तो कर्त्तव्य-पालन में स्वाधीनता का प्रश्न ही न होता। प्रत्येक परिस्थि त कर्त्तव्यपालन की सामग्री के तुल्य है। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य-पालन सम्भव है। कर्त्तव्य का फल किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की प्राप्ति में नहीं है अपितु देश, काल, वस्तु, व्यक्ति अवस्था, परिस्थिति आदि से अतीत के जीवन का अधिकारी होने में है। मानव अपने वास्तविक लक्ष्य से अपरिचित होने के कारण कर्त्तव्य का फल वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति मानता है। उत्पन्न हुई वस्तु-जनित सुख-सामग्री तो उन प्राणियों को भी उपलब्ध हैं जिनके सामने कर्त्तव्य का प्रश्न ही नहीं है। इससे भी यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्त्तव्य का प्रश्न एकमात्र मानव ही के सामने है। अतः मानव-जीवन में अकर्त्तव्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अकर्त्तव्य

की उत्पत्ति देह-जनित सुख-लोलुपता में ही निहित है। देह-जनित सुखभोग मानव से भिन्न प्राणियों को भी प्राप्त है। किन्तु मानव जीवन में देह-जनित सुख-लोलुपता के साथ-साथ उससे ऊपर उठने का भी प्रश्न है; कारण, कि यह मानवमात्र का अनुभव है कि सुख-लोलुपता का परिणाम पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध होना है। मानव-जीवन में स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता की माँग है। इस दृष्टि से देह-जनित सुख-लोलुपता का सम्पादन करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। सुख की वास्तविकता का अनुभव करने-मात्र के लिये ही देह-जनित कार्यों का स्थान है। पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने के लिए सुख की वास्तविकता का अनुभव कर, उससे असंग होना अनिवार्य है। यह सभी का अनुभव है कि कामनापूर्ति काल में सुख का भास होता है। यद्यपि वह भास भी कामनापूर्ति-जनित नहीं है, अपितु कामना रहित होने से ही है पर प्रमादवश मानव उस सुख को कामना-पूर्ति का सुख मान लेता है। कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो वस्तु-स्थिति है वही कामनापूर्ति के अन्त में भी है। परन्तु इस वास्तविकता का बोध बिना हुए सुख के भास को कामना-पूर्ति में आरोप कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, जो किसी को भी स्वभाव से रुचिकर नहीं है। इतना ही नहीं, यदि कामना-पूर्ति ही सुख का कारण मान लिया जाय, तब भी कामनापूर्ति काल में पराधीनता तो ज्यों की त्यों रहती है। उस पराधीनता का स्पष्ट अनुभव कामना-अपूर्ति काल में होता है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने लक्ष्य से परिचित हो जाय। देहाभिमान के कारण प्रमाद वश मानव पराधीनता में भी मधुरता का अनुभव करता है। क्या मधुर विष विनाश में हेतु नहीं होता?

अर्थात् अवश्य होता है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग पर-सेवा में है। सेवा का अर्थ यह नहीं है कि सेवा के अन्त में त्याग तथा प्रेम के अतिरिक्त और कुछ मिल सकता है। सेवा एकमात्र त्याग तथा प्रेम की जननी है। त्याग अपने लिए और प्रेम प्रभु के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से सेवापरायण होने से ही मानव-जीवन में पूर्णता प्राप्त होती है। सेवा ही कर्त्तव्य का वास्तविक स्वरूप है। सेवा-भाव से की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म समान अर्थ रखता है। छोटे से छोटा कार्य और बड़े से बड़ा कार्य, कर्त्तव्य-बुद्धि से करने पर समान ही है। इस रहस्य को जान लेने पर मानव प्रत्येकपरिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक सर्वतोमुखी विकास करने में समर्थ है। यह कैसी अनुपम महिमा है कि परिस्थितियों में भेद होने पर भी फल मे समानता है। कर्त्तव्य-विज्ञान के इस तथ्य को भूल जाने पर ही मानव-समाज परिस्थितियों में आबद्ध हो परिस्थितियों का आह्वान करता रहता है और परिणाम में पराधीनता, जड़ता तथा अभाव ही पाता है। कर्त्तव्य-विज्ञान को अपनाये बिना प्रत्येक परिस्थिति विकास की जननी नहीं हो सकती। दो व्यक्तियों की भी परिस्थितियाँ सर्वांश में समान नहीं होती। यदि सर्वतोमुखी विकास को परिस्थिति-जनित मान लिया जाय, तो समस्त विश्व में किसी एक ही व्यक्ति का विकास होगा। पर यह मान्यता किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं हो सकती; कारण, कि मानव-मात्र की वास्तविक माँग एक है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियों में सर्वतोमुखी विकास होना अनिवार्य है। विकास परिस्थिति के आश्रित नहीं है, अपितु उसके सदुपयोग में है। इस दृष्टि से भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस मंगलमय विधान की

जितनी भी सराहना की जाय, कम है। परिस्थितियों का सदुपयोग करने के लिए उदारता तथा त्याग अपनाना अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति आंशिक अनुकूलता तथा आंशिक प्रतिकूलता से युक्त है। अनुकूलता का उपयोग उदारता में और प्रतिकूलता का उपयोग त्याग में निहित है। उदारता का अर्थ दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने ही में है। त्याग का अर्थ अहम् और मम् के नाश में है। करुणा और प्रसन्नता मानव को अनुकूलता की दासता से रहित कर देती है और अहम् और मम् के नाश से भयंकर से भयंकर प्रतिकूलता भी भयभीत नहीं कर पाती। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय मिटते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नहीं रहती और फिर स्वतः समता के साम्राज्य में प्रवेश होता है जो विकास का मूल है। सुख-भोग की रुचि का नाश करुणा में और निष्कामता प्रसन्नता में निहित है। करुणित हृदय में सुखभोग की रुचि जीवित नहीं रहती और खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। अतः प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर निष्कामता स्वतः आजाती है, जो विकास का मूल है। निष्कामता कर्त्ता में रहती है, कर्म में नहीं। कर्म तो प्राकृतिक नियमानुसार फल के स्वरूप में परिणत होता है, पर कर्त्ता में निष्कामता आ जाने से कर्म-जनित फल से कर्त्ता स्वयं असंग हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि कर्त्ता में से ही कर्म की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् कर्म कर्त्ता का ही चित्र है। इस दृष्टि से किसी कर्म से कर्म का निर्माण होगा, यह सिद्ध नहीं होता अपितु निष्काम-कर्त्ता से ही सुन्दर कर्म की अभिव्यक्ति होती है। अतः कर्त्ता के परिवर्तन में ही कर्म का परिवर्तन है। सुन्दर कर्त्ता से सुन्दर कर्म होगा। सुन्दर कर्त्ता तभी हो सकता है जब कर्त्तव्य का सम्बन्ध एकमात्र पर-

हित से हो। अपने लिए किसी भी मानव को कुछ भी करना नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि कोई भी मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बिना हुए वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है। कर्त्तव्य-परायणता तो मानव-जीवन का मुख्य अङ्ग है। फिर भी यह स्पष्ट है कि अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब मानव मिले हुए को न तो अपना माने और न अपने लिये। मिला हुआ जो कुछ है वह सृष्टि का एक अल्प से अल्प भाग है। सृष्टि की वस्तु को सृष्टि के हित में व्यय करना अनिवार्य है, जो वास्तव में कर्त्तव्य का स्वरूप है। मिले हुए का सदुपयोग स्वतः निष्कामता तथा असंगता प्रदान करता है। निष्कामता से परम-शान्ति और असंगता से स्वाधीनता प्राप्त होती है, जो अपने लिए अभीष्ट है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान की पूर्णता में ही योग-विज्ञान की अभिव्यक्ति है।

कर्त्तव्यपालन का अर्थ कर्त्तव्य के अभिमान में, क्रिया-जनित सुख-लोलुपता में, एवं फलासक्ति में आबद्ध होना नहीं है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता आती जाती है, त्यों-त्यों करने का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वतः मिटता जाता है। सर्वांश में कर्त्तव्यनिष्ट होने पर मानव स्वतः अपने ही में अपने सर्वस्व को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन एवं भौतिकवादी की सेवा है। वादों का भेद होने पर भी कर्त्तव्य का बाह्यरूप परिस्थिति के आश्रित ही होता है। अतः प्रत्येक मानव के लिये कर्त्तव्य का बाह्यरूप परिस्थिति के अनुरूप ही होगा अर्थात् दर्शन अनेक और परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य एक। परिस्थिति भेद में ही कर्त्तव्य का भेद है। दार्शनिक भेद होने से कर्त्तव्य में कोई भेद नहीं है। इसी कारण

प्रत्येक मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए एकमात्र जाने हुए अकर्त्तव्य का त्याग करना है। अकर्त्तव्य का त्याग करने के लिए स्वयं प्राप्त विवेक के प्रकाश में किये हुए पर विचार करना होगा। विवेक विरोधी कर्म ही अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ आंशिक कर्त्तव्य, कर्त्ता को गुणों के अभिमान में ही आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। अकर्त्तव्य का सर्वांश में अन्त किये बिना कर्त्ता में कर्त्तव्य की स्मृति जाग्रत नहीं होती अर्थात् कर्त्तव्य का स्पष्ट बोध नहीं होता और उसके बिना कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानवमात्र को स्वत: मंगलमय विधान से प्राप्त है। अत: कर्त्तव्यपालन से निराश होना भारी भूल है। इस भूल का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। भूल को भूल जानने पर ही भूल का नाश होता है। श्रम-रहित होने पर स्वतः अपने को अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है। क्रिया-जनित सुख में आबद्ध प्राणी भूल को भूल नहीं जान पाता। इस कारण प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है। जिस प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त विश्राम में होता है, वह प्रवृत्ति निवृत्ति के समान ही फलदायक है और वही वास्तव में कर्त्तव्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार सब कुछ करने पर जिसकी प्राप्ति होती है, कुछ न करने पर भी उसी की उपलब्धि होती है। पर कुछ न करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप फलासक्ति से रहित कर्त्तव्य पालन अनिवार्य है। जब तक मानव यह मानता है कि किये हुए से मुझे कुछ मिलेगा तब तक कर्त्तव्य का पालन सम्भव नहीं होता और दूसरों के अधिकार की रक्षा किये बिना भी विद्यमान राग मिट सकता है, यह मानना भ्रममूलक है

और अपने अधिकार का त्याग किये बिना नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा मानना भी प्रमाद ही है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग ही वास्तव में कर्त्तव्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग का अभाव तो विवेक पूर्वक असंग होने से भी हो सकता है, परन्तु विचार यह करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग क्या असंग होने पर स्वाभाविक नहीं हो जाता ? अर्थात् अवश्य हो हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर असंग होने की सामर्थ्य आती है और असंग होने पर कर्त्तव्य-परायणता स्वत: आ जाती है। इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग अनिवार्य है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होने पर भी स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है और आत्मीयता से जाग्रत प्रियता उदित होती है जिसके होने पर भी दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग हो जाता है; कारण, कि प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा ही है। इस दृष्टि से शरणागति में भी कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है। सभी दृष्टियों से वास्तविकता में कोई भेद नहीं होता है। मानव की रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के भेद होने से दृष्टि-भेद अवश्य है, पर माँग की एकता होने के कारण वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्रत्येक मानव में करने का राग स्वभाव-सिद्ध है। उसकी निवृत्ति कर्त्तव्य-पालन में ही निहित है। कर्त्तव्य-पालन कर्त्ता के अधीन है। उसे वह स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। यद्यपि

कर्म-सामग्री समष्टि शक्तियों से निर्मित है, व्यक्तिगत नहीं है, परन्तु प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्त्तव्य में असमर्थता तथा पराधीनता तभी अनुभव होती है, जब मानव कर्त्तव्य-मात्र में ही अपना अधिकार नहीं मानता अपितु फलासक्ति का प्रलोभन रखता है जबकि यह निर्विवाद है कि कर्त्तव्य पर-हित में ही निहित है उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख सम्पादन करना भूल है। व्यक्तिगत विकास के लिए तो मानव को कर्त्तव्य के अन्त में स्वतः योग की प्राप्ति होती है। योग अपने लिये और कर्त्तव्य 'पर' के लिये निर्मित है। योग की प्राप्ति के लिये किसी कर्म-सामग्री की अपेक्षा नहीं है, केवल करने की राग-निवृत्ति मात्र से ही योग के साम्राज्य में प्रवेश होता है, अर्थात् योग प्राप्ति में श्रम अपेक्षित नहीं है। इस कारण योग अपने लिये और कर्त्तव्य 'पर' के लिये विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानु-पर-हित में अपना हित स्वतः सिद्ध रहता ही है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव को व्यक्तिगत विकास के लिये श्रम-साध्य साधन ही अपेक्षित हो। श्रम की आवश्यकता तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। परिस्थिति का सदुपयोग पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है कि जब परिस्थितियों में जीवन बुद्धि न रहे, अपितु प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के रूप में ही स्वीकार की जाय। परिस्थिति विधान से निर्मित है और स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, उससे केवल मानी हुई एकता है। इस कारण कर्त्तव्य-परायणता-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व है। दायित्व पूरा होने पर विश्राम

स्वत: मिलता है जो सामर्थ्य तथा विचार एवं प्रीति की भूमि है। कर्त्तव्य-पथ से भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्त्तव्य की पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्-कार बड़ो ही सुगमतापूर्वक स्वत: होता है। प्रेम का आरम्भ किसी भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु प्रेम-स्वभाव से ही विभु हो जाता है। अत: विश्व प्रेम भी विश्व से अतीत, आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है; कारण, कि प्रेम तत्व को किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रियता सीमा में आबद्ध है, वह प्रेम नहीं है अपितु प्रेमाभास है। प्रेम तो वह अविच्छिन्न गति है जो क्षति, निर्वृत्ति, पूर्त्ति आदि से विलक्षण है। प्रेम का प्रादुर्भाव प्रेमी को प्रेम के रूप में परिणत कर विभु हो जाता है। प्रेम जिसमें उदित होता है, उसे भी अपने से ही अभिन्न कर लेता है। इस दृष्टि से प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है। उसी का क्रियात्मक रूप कर्त्तव्य-परायणता है। इस कारण कर्त्तव्य-निष्ठ मानव प्रेम से अभिन्न हो सकता है। अत: कर्त्तव्य-पथ से भी पूर्णता प्राप्त होती है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव के जीवन में आलस्य, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय आदि के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि आलस्य जड़ता में और अकर्मण्यता व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है। कर्त्तव्य-परायणता सजगता से ही साध्य है। सजगता आते ही अकर्मण्यता का भी अन्त हो जाता है और फिर प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म सहज, सरस तथा स्वाभाविक होने लगता है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक होती जाती है, त्यों-त्यों कर्त्तव्य का अभिमान और क्रिया-जनित सुख तथा फलासक्ति भी अपने आप मिटती जाती है। जब तक कर्त्तव्य में अस्वाभाविकता रहती है तभी तक कर्त्ता

को अपने में कर्त्तव्य-निष्ठ होने का भास होता है। कर्त्तव्य में अस्वाभाविकता तभी तक रहती है, जब तक किसी न किसी अंश में अकर्त्तव्य विद्यमान है। अकर्त्तव्य का नितान्त अभाव होने पर कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। कर्त्तव्य-पालन से पूर्व उसकी स्मृति तथा पालन की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब कर्त्तव्य-पालन में अविचल आस्था हो। दूसरों के कर्त्तव्य की स्मृति अपने कर्त्तव्य की विस्मृति में हेतु है और कर्त्तव्य को विस्मृति ही अकर्त्तव्य की जननो है। इस दृष्टि से दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखना हो अपने कर्त्तव्य से च्युत होना है, जो विनाश का मूल है। कर्त्तव्य-परायणता दूसरों में कर्त्तव्य की भावना को स्वतः जगाती है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव को अवकाश ही नहीं मिलता कि वह किसी अन्य के कर्त्तव्य पर विचार कर सके। अधिकार लोलुपता में आबद्ध होने पर ही दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि जाती है। अधिकार-लोलुपता कर्त्तव्य की राह में भारी बाधा है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार अधिकार कर्त्तव्य का दास है, पर इस विधान में आस्था न रहने से अधिकार की माँग उत्पन्न होती है, जो प्रमाद है। अपने अधिकार का अपहरण होने पर भी कर्त्तव्य-पथ के पथिक को कोई क्षति नहीं होती, अपितु विकास हो होता है; कारण, कि वास्तव में मानव का कर्त्तव्य-पालन ही में अधिकार है, अधिकार पाने में अधिकार नहीं है। अधिकार का रोग राग तथा क्रोध से रहित नहीं होने देता। राग पराधीनता में और क्रोध विस्मृति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में अधिकार-लोलुपता का कोई स्थान ही नहीं है। यदि अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना हो तो अधिकार रूपी मधुर विष को अवश्य

अपना लिया जाय, परन्तु यदि स्वाधीनता पूर्वक सत्-पथ पर अग्रसर होने की अभिरुचि है तो सदा के लिये अधिकार-लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। राग तथा क्रोध के रहते हुए न तो कर्त्तव्य-पालन की सामर्थ्य ही प्राप्त होती है और न कर्त्तव्य की स्मृति ही जाग्रत होती है, तो फिर कर्त्तव्य-पालन कैसे सम्भव हो सकता है ? अत: कर्त्तव्य-निष्ठ होने के इच्छुक मानव को राग तथा क्रोध से रहित होना अनिवार्य है, जो एक-मात्र अधिकार-त्याग में ही निहित है। अधिकार-त्याग ही वह उपाय है कि जिसके द्वारा मानव समस्त विश्व को अभय दान देता है और स्वयं स्वाधीन होता है। अधिकार के भार से ही निकटवर्ती प्रिय जन तथा सारी सृष्टि भयभीत होती है; कारण, कि अधिकार की माँग दूसरों में क्षोभ उत्पन्न करती है। यद्यपि दूसरों के अधिकार देने में बड़ी ही स्वाधीनता है और देने पर स्वत: सत्-पथ की ओर प्रगति होती है, पर अधिकार की माँग तो दूसरों को शान्त नहीं रहने देती। इस दृष्टि से अधिकार का त्याग अत्यन्त आवश्यक है; कारण, कि इसके द्वारा दूसरों की शान्ति भंग होती है अथवा दूसरे भयभीत होते हैं और उसे स्वयं भी चिन्तित तथा क्षोभित होना पड़ता है। चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होने के लिये दूसरों को भय-रहित करना तथा शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। क्षोभित तथा चिन्तित रहते हुए कर्त्तव्य-पालन सम्भव नहीं है; कारण, कि चिन्ता तथा क्षोभ से प्राप्त-शक्ति का ह्रास होता है और कर्त्तव्य की विस्मृति होती है। कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिये चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होना अनिवार्य है। जब मानव वह कर देता है जो करना चाहिये, तब समस्त विश्व उसके अनुकूल हो जाता है, अर्थात् चराचर जगत्

उसकी हितकामना करता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन विकास का मूल है।

कर्त्तव्य का अभिमान अकर्त्तव्य से भी अधिक निन्दनीय है; कारण, कि अकर्त्तव्य से पीड़ित प्राणी कभी न कभी कर्त्तव्य की राह चल सकता है, किन्तु कर्त्तव्य का अभिमानी तो अकर्त्तव्य को ही जन्म देता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता का अभिमान करना भारी भूल है। कर्त्तव्य-पालन न करना महान दोष है, पर कर्त्तव्य-निष्ठ होने में कोई विशेषता का अनुभव करना कर्त्तव्य के रूप में अकर्त्तव्य को अपनाना है। अकर्त्तव्य के रूप में अकर्त्तव्य का त्याग सुलभ है, पर जो अकर्त्तव्य कर्त्तव्य के रूप में आता है उसका त्याग बड़ा ही दुर्लभ होता है। इस कारण सजगता-पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कर्त्तव्य के अभिमान का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि जिन वस्तुओं, योग्यता और सामर्थ्य के द्वारा कर्त्तव्य का पालन किया है, वे सभी उन्हीं की थीं जिनके साथ कर्त्तव्य-पालन किया है। किसी की धरोहर दे देना विशेषता नहीं है, अपितु न देने में महान् दोष है। कर्त्तव्य की सामर्थ्य और स्मृति जिसकी देन है उसी के नाते कर्त्तव्य-पालन करना है। तभी कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक होती है।

कर्त्तव्य-विज्ञान में यह स्पष्ट है कि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को विधान से प्राप्त है। प्राप्त के सदुपयोग का नाम ही कर्त्तव्य-परायणता है। प्राप्त का सदुपयोग किसी न किसी की सेवा में है। उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख का सम्पादन करना अपने को पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध

करना है। जो सामग्री पर-सेवा के लिए मिली है उसका उपयोग व्यक्तिगत सुख-सम्पादन में करना न्याय नहीं है। दाता ने मानव पर यह विश्वास किया है कि वह प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करेगा और न उसे अपना मानेगा और न उसका आश्रय लेकर स्वयं पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होगा। पर मानव जानते हुए भी अपने ही द्वारा अपना विनाश कर बैठता है। उससे बचाने के लिए ही सृष्टि में दुःख का प्रादुर्भाव होता है। पर कैसे आश्चर्य की बात है कि प्रवृत्ति-जनित दुःखद परिणाम को भोगने पर भी मानव प्रवृत्ति से अपने सुख की आशा का त्याग नहीं करता है। सेवा-सामग्री को अपने सुख में व्यय करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। मानव का अपना हित तो त्याग में है। त्याग को अपनाते ही परम शान्ति, स्वाधीनता, सेवा और प्रीति स्वतः जाग्रत होती है। शान्ति और स्वाधीनता अपने लिए, सेवा जगत् के लिए और प्रीति उसके लिए जो जगत् का प्रकाशक तथा आश्रय है। इस दृष्टि से मानव-जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है परन्तु क्रियात्मक रूप से पर-सेवा में प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का व्यय न करना और प्राणी मात्र के हित में रति न रखना भारी भूल है। यह भूल मानव को निष्कामता, निर्ममता तथा असंगता से विमुख कर देती है जो विनाश का मूल है।

कर्म का सम्पादन केवल 'स्व' के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रत्येक कर्म सामूहिक सहयोग से ही सिद्ध होता है। क्या इस तथ्य से स्पष्ट विदित नहीं हो जाता कि कर्म-जनित फलासक्ति व्यक्तिगत सुख की भावना से रखना प्रमाद नहीं है? अर्थात् अवश्य है। इसी कारण कर्म अनुष्ठान से पूर्व, कर्ता को सर्व-

हितकारी सद्भावना स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य के पीछे सर्व-हितकारी भावना सतत् रहनी चाहिये, तभी कर्म अनुष्ठान सत्-पथ पर अग्रसर कर सकेगा। जब कर्ता सर्वहितकारी सद्भावना नहीं रखता, तब उन प्रवृत्तियों का जन्म होता है जो कर्त्ता का विनाश करने में हेतु हैं।

क्रिया और कर्म में एक बड़ा भेद है। क्रिया स्वत: होती रहती है पर कर्म किया जाता है। जो किया जाता है उसमें कर्त्ता का भाव पवित्र होना अनिवार्य है और कार्य-कुशलता तथा लक्ष्य पर दृष्टि भी रखना है। कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि-रहित कर्म अकर्त्तव्य है, जो सभी के लिए अहितकर है। जो होता रहता है उसका अभिमान नहीं होता। जो करते हैं उसी का अभिमान होता है और उसी का उद्देश्य अंकित होता है, जो कालान्तर में फलित होता है। क्रिया एक मात्र उत्पत्ति-विनाश का क्रम-है और कुछ नहीं। कर्म का आरम्भ सीमित अहंभाव से होता है। यद्यपि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण उसका भास होता है और उसी में करने का राग तथा पाने का प्रलोभन है। करने के राग की निवृत्ति प्रलोभन रहित होने पर ही सम्भव है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्म अनुष्ठान सर्वहितकारी सद्भावना पूर्वक प्रलोभन तथा भय से रहित होकर करना अनिवार्य है। प्रलोभन के रहते हुए भय होता ही है। प्रलोभन रहित होने पर ही निर्ममता स्वत: आती है। इस दृष्टि से प्रलोभन तथा भय से रहित प्रवृत्ति ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति है और वही कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य-निष्ठ मानव की माँग जगत् को रहती है। कर्तव्य-निष्ठ मानव जगत् का चिन्तन नहीं करता और न उसके पीछे

दौड़ता है अपितु जगत् उसका चिन्तन करता है और उसकी आवश्यकता अनुभव करता है। यह नियम है कि जो जगत् की आवश्यकता अनुभव नहीं करता वही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। जो जगत् की आवश्यकता अनुभव करता है वह तो जगत् को अपनी खुराक बनाकर अनेक प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। अतः कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए यह आवश्यक है कि मानव अपने को जगत् की आवश्यकता से रहित कर शान्ति तथा स्वाधीनता को प्राप्त करे। अशान्त तथा पराधीन प्राणी कभी भी कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं हो सकता। जो कर्त्तव्य-निष्ठ नहीं है, उसकी जगत् को कभी आवश्यकता नहीं होती। जिसकी जगत् को आवश्यकता नहीं रहती, वही अनेक प्रकार की दासताओं में आबद्ध होकर भटकता रहता है। अल्प से अल्प वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता क्यों न हो, किन्तु जिसने अपने को जगत् की आवश्यता से रहित कर लिया है उसके द्वारा महान् से महान् सेवा स्वतः होने लगती है; कारण, कि उसमें कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है। इस दृष्टि से वे ही सेवा कर सकते हैं जो सर्व-साधारण की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् हैं, यह धारणा भ्रममूलक ही है। सेवा करने के लिए एकमात्र अपने को पराधीनता से रहित करना है। स्वाधीनता से अभिन्न होने पर ही सेवा का सम्पादन होता है। पारस्परिक दो आवश्यकताओं का संयोग यद्यपि सुखद-प्रतीत होता है परन्तु जो आवश्यकता रहित होकर दूसरों की आवश्यकता नहीं बन जाता वह सेवा नहीं कर सकता। अपनी आवश्यकता रखते हुए किसी की आवश्यकता को पूरा करना भोग है, सेवा नहीं। यह सभी को विदित है कि भोग का परिणाम रोग तथा शोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सेवा की पूर्णता सेवक को प्रीति से अभिन्न कर देती है अर्थात् सेवा प्रीति में परिणत

होती है और प्रीति की जाग्रति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिसे प्रीति से अभिन्न होना है वही कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकता है।

आवश्यकता-रहित होने के लिए प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य का निर्णय करना अनिवार्य होता है। वास्तविक माँग से अपरिचित मानव दूसरों से किसी न किसी प्रकार की आशा रखता है। जो 'पर' से आशा रखता है, वह आवश्यकता-रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की द्वन्द्वात्मक स्थिति तो मानव-मात्र में जन्मजात है ही, पर अकर्त्तव्य-रहित कर्त्तव्य-परायणता ही वास्तव में अभीष्ट है। कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी के जीवन में अकर्त्तव्य की उत्पत्ति ही नहीं होती और कर्त्तव्य-परायणता का भास नहीं होता; कारण, कि भास उसी का होता है जिससे किसी न किसी अंश में भिन्नता है अर्थात् जो जीवन नहीं है। कर्तव्य-परायणता में जीवन है। भिन्नता का मूल प्रलोभन तथा भय है। अकर्त्तव्य का भय तथा कर्त्तव्य का प्रलोभन उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर मानव उससे रहित नहीं होता। अकर्त्तव्य के परिणाम के भय से अकर्त्तव्य-जनित सुखासक्ति नाश नहीं होती। अकर्त्तव्य किसी भी रूप में अभीष्ट नहीं है; कारण, कि वह 'अकर्त्तव्य' है तभी उसका त्याग होता है, जिसके होते ही कर्तव्य-परायणता स्वतः आती है। किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर बलपूर्वक कर्त्तव्य-पालन करना वास्तविक कर्त्तव्य-परायणता नहीं है। जिसके मूल में कोई भी प्रलोभन है वह प्रवृत्ति निर्दोष नहीं है। निर्दोषता जीवन है। अतः निर्दोष होने पर ही

कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। प्रलोभन तथा भय से रहित होने पर ही, नित्य-प्राप्त निर्दोषता से अभिन्नता होती है। निर्दोषता का ही क्रियात्मक रूप कर्त्तव्य-परायणता है। है। यद्यपि निर्दोषता नित्य होने से सभी को सदैव प्राप्त है, परन्तु प्रलोभन तथा भय में आबद्ध प्राणी प्राप्त निर्दोषता से परिचित नहीं होता। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है उसमें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं रहता। प्रलोभन रहित होते ही स्वतः भय का अन्त तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है। यह कैसी विडम्बना है कि कोई भो मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता को सुरक्षित नहीं रख पाता अर्थात् जिसकी दासता स्वीकार करता है वह नहीं रहता, केवल दासता ही रह जाती है। यदि विचार करें तो यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह किस की दासता में आबद्ध है? उसकी, जो नहीं है। 'है' की प्रियता का त्याग तथा 'नहीं' की दासता में आबद्ध रहना कहाँ तक युक्ति-युक्त है? जो नहीं है, अर्थात् जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उसी के द्वारा उसकी सेवा करनी है, कि जिसकी प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य भी 'नहीं' में परिणत हो रही है और जिसकी सेवा की जा रही है, वह भी उसी की जाति का है। इस दृष्टि से जो जिसकी जाति का है उसकी सेवा में उसे व्यय करना और 'स्व' को प्रियता से अभिन्न करना वास्तविक कर्त्तव्य-परायणता है।

यह सभी को मान्य है कि शरीर और विश्व में जातीय एकता है अर्थात् शरीर विश्व की ही जाति का है। प्रत्येक मानव अपने-अपने शरीर के प्रति रक्षा का भाव रखता है। उसमें दोष आ जाने पर दोष निवारण का प्रयास करते हुए भी शरीर की

रक्षा की सद्भावना सतत् रहती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्व की रक्षा की भावना रखते हुए ही कर्त्तव्य करना है। यही पवित्रतम नीति है। प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में भावना क्या है ? इसका निर्णय किये बिना प्रवृत्ति सार्थक सिद्ध नहीं होती। अशुद्ध भावना से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है और शुद्ध भावना से अकर्त्तव्य का नाश होता है। अकर्त्तव्य के नाश में ही कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से अशुद्ध भावनाओं का अन्त किये बिना कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। समस्त भावनाओं का उद्गम, कर्त्ता है। जब तक कर्त्ता स्वयं शुद्ध नहीं होता तब तक शुद्ध भावनाओं का प्रादुर्भाव ही नहीं होता। जब मानव अपने जाने हुए का आदर करता है तब उसमें अशुद्धि नहीं रहती और फिर स्वतः शुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अशुद्ध-कर्त्ता से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और शुद्ध-कर्त्ता से ही कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति होती है। यह निर्विवाद-सिद्ध है कि कर्म से कर्त्ता की उत्पत्ति नहीं होती अपितु कर्त्ता ही कर्म के रूप में परिणत होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैसा कर्त्ता वैसा कर्म।

सबल से रक्षा की भावना सभी को स्वभाव से अभीष्ट है। इस माँग का आदर करने पर निर्बलों की रक्षा की सद्भावना स्वतः जाग्रत होती है। भावना का क्रियात्मक रूप ही कर्म है। अपनी माँग का वास्तविक बोध हुए बिना शुद्ध भावनाओं की जाग्रति सम्भव नहीं है। कामना और माँग में एक बड़ा भेद है। कामनाओं का उद्गम देहाभिमान है, जो अविवेक सिद्ध है और माँग का सम्बन्ध उससे है जो देह नहीं है। अतः देह से असंग होने पर ही कामनाओं का नाश और माँग की अभिव्यक्ति होती

है। यद्यपि कामनाओं के रहते हुए भी माँग प्रत्येक मानव में बीज रूप से विद्यमान है, पर कामना-जनित पराधीनता तथा अभाव की वेदना के बिना माँग का परिचय नहीं होता और उसके हुए बिना अशुद्ध संकल्पों का नाश नहीं होता। अशुद्ध संकल्पों के रहते हुए कर्त्तव्य का निर्णय सम्भव नहीं है। जो किसी को भी बुरा समझता है, तथा किसी का भी बुरा चाहता है एवं जानी हुई बुराई कर सकता है, वह कभी भी कर्त्तव्य की वास्तविकता से परिचित नहीं हो सकता। कर्त्तव्य पालन से पूर्व कर्त्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव यह स्वीकार करे कि मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा। किसी को बुरा समझने का अधिकार किसी को नहीं है, कारण, कि दूसरों के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी सम्भव नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि जो हमारे प्रति बुराई कर रहा है उसे बुरा समझने का अधिकार क्यों नहीं है ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसने अपने प्रति बुराई नहीं की क्या वह दूसरों के प्रति बुराई कर सकता है ? कदापि नहीं। भला जिसने अपने प्रति बुराई की है उसके द्वारा यदि अपनी कोई क्षति होती है तो वह क्या करुणा का पात्र नहीं है ? करुणित-हृदय में प्रति-हिंसा की भावना ही जाग्रत नहीं होती अपितु बुराई के बदले में भलाई करने की उत्कट लालसा होती है। करुणित बिना हुए कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। करुणित मानव सुखासक्ति से रहित हो स्वत: कर्त्तव्य-परायण हो जाता है। करुणा तभी जाग्रत होती है जब मानव विश्व-जीवन के साथ एकता स्वीकार करता है। भेद और भिन्नता के रहते हुए कर्त्तव्य के गीत गाना अपने को आप धोखा देना है। एकता स्वीकार करने पर विनाश की भावना ही उत्पन्न नहीं

होती और फिर स्वभाव से ही सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही स्वभाव से ही कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है जो विकास का मूल है। अपने द्वारा अपना विनाश किसी को अभीष्ट नहीं है तो फिर किस प्रकार किसी के प्रति बुराई की जाय जब कि अनेक भिन्नताएँ होने पर भी वास्तविक एकता है। एकता का बोध यद्यपि स्वभाव-सिद्ध है परन्तु उसका आदर न करने से भेद तथा भिन्नता पोषित होती है। यदि एकता स्वभाव-सिद्ध न होती तो दूसरों से आदर, प्यार तथा रक्षा की माँग ही न होती। जिससे किसी प्रकार की एकता नहीं है उससे कोई माँग भी नहीं होती और यदि किसी प्रकार की भिन्नता न हो तो कर्त्तव्य का प्रश्न ही नहीं होता। कर्त्तव्य का प्रश्न एकता तथा भिन्नता से ही उत्पन्न होता है। सेवा करने के लिए एकता और सुख की आशा से रहित होने के लिए भिन्नता का उपयोग किया जाय तो एकता और भिन्नता दोनों ही का सदुपयोग हो सकता है। भिन्नता में संघर्ष और एकता में आसक्ति को जन्म देना अकर्त्तव्य है। अतः जिस अंश में भिन्नता प्रतीत होती है, उस अंश में त्याग को अपनाना है, द्वेष को नहीं और जिस अंश में एकता प्रतीत होती है उस अंश में सेवा को अपनाना है, राग को नहीं। द्वेष के नाश में प्रेम की अभिव्यक्ति और राग के नाश में बोध की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध हैं। प्रेम रस का और बोध वास्तविकता का प्रतीक है।

एकता और भिन्नता के आधार पर ही सृष्टि की रचना है। अतः दोनों ही का सदुपयोग करना है। सदुपयोग करते ही एकता और भिन्नता से विलक्षण जो वास्तविक जीवन है उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य की पूर्णता में कर्त्ता स्वयं वास्तविक से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता सर्वतोमुखी

विकास का मूल है। कर्त्तव्य-निष्ठ हुए बिना कर्त्ता परिच्छिन्नता में आबद्ध रहता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए निष्कामता सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता जो विकास का मूल है। परिच्छिन्नता का नाश सुख की आशा और दुःख के भय से रहित होने में ही निहित है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही परिच्छिन्नता को पोषित करती है। सुख की आशा का अन्त करते ही दुःख का भय स्वतः मिट जाता है और फिर परिच्छिन्नता असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाती है। सुख की आशा ने ही कर्त्तव्य से विमुख किया है और अकर्त्तव्य को जन्म दिया है। जिसे पराधीनता और अभाव असह्य हो जाता है वह मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख की आशा से रहित हो जाता है जो विकास का मूल है।

६

समाज-दर्शन

अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है, वही समाज है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्व-हितकारी सद्भावना से रहित जो पारस्परिक एकता है, वह भी समाज का शुद्ध रूप है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह सभी से अपने को और अपने को सभी से अभिन्न करना चाहता है। वह तभी सम्भव होगा जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को व्यक्तिगत न माने अपितु जो कुछ मिला है वह समाज की धरोहर समझे—अर्थात् प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि समाज के हित में व्यय करे। ऐसा करने से सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं और पारस्परिक संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, सारा समाज एक जीवन हो जाता है और इकाई और समूह का ऊपरी भेद रहने पर भी आन्तरिक एकता हो जाती है। ऐसे समाज की माँग व्यक्ति को और ऐसे व्यक्ति की माँग जो एकता स्थापित करने में प्रयत्नशील है, समाज को रहती है। व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज की माँग होती है; कारण, कि कोई भी एक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता। इसके साथ-साथ यदि वह स्वयं दूसरों की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग नहीं देता तब भी समाज

का निर्माण नहीं होता। समाज का निर्माण एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग देने के लिये है। प्राकृतिक पदार्थ, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम द्वारा सामाजिक आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। प्राकृतिक नियमानुसार उत्पादन के साधन और उत्पादित वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जो व्यक्तिगत नहीं है, उसके उपयोग में अधिकार है, ममता में नहीं और न उनके दुरुपयोग का ही अधिकार है। जिस किसी मानव ने जो कुछ उत्पादन किया है उसका वह स्वयं ही उपभोग नहीं कर सकता अपितु एक दूसरे का उत्पादन एक दूसरे के काम आता है। यदि उत्पादनकर्त्ता उत्पादित वस्तु को अपनी मान लेता है और उन प्राणियों को अपना नहीं मानता जिनके लिये वे वस्तुएँ उपयोगी हैं तब सामाजिक एकता सुरक्षित नहीं रहती और भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, जो विनाश के मूल हैं। उत्पादन शक्ति जितनी उपयोगी है उतनी ही उपयोगी वह भावना भी है जिससे प्रेरित होकर उत्पादन का सदुपयोग हो सके। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के बल का सम्पादन प्रत्येक मानव को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु उत्पादित बलों का सामाजिक हित में व्यय न करने से, बल उत्पादक के विनाश में हेतु होता है। इस दृष्टि से बल का सम्पादन किसी निर्बल की सेवा में है, मिथ्या अभिमान में आबद्ध होने के लिये नहीं। सबल और निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है। बल के द्वारा निर्बलों का विनाश करना और समाजवाद के गीत गाना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है। यह सभी को मान्य है कि बल का उपयोग उनके प्रति सम्भव नहीं है, जो अपने से अधिक बली हैं। बल का सदुपयोग तो एकमात्र निर्बलों की सेवा में है। प्राकृतिक नियमानुसार जो बल निर्बलों की सेवा में व्यय होता है, वह अधिक सुरक्षित

रहता है और उत्तरोत्तर बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टि से बल का उत्पादन, उसकी सुरक्षा एकमात्र निर्बलों की सेवा में ही निहित है। जिस मानव का हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नहीं होता वह सम्पादित बल का सद्व्यय नहीं कर पाता। बल का दुरुपयोग तभी होता है जब मानव पर-पीड़ा से पीड़ित तथा सुखियों के सुख को सहर्ष सहन न कर सके। बल के दुरुपयोग से ही निर्बलतायें उत्पन्न होती हैं। अतः निर्बलताओं का अन्त करने के लिये प्राप्त बल का सदुपयोग अनिवार्य है। बल के सदुप-योग से बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। कितना ही अधिक बल क्यों न हो, दुरुपयोग करने पर निर्बलता से और अल्प से अल्प बल क्यों न हो सदुपयोग करने पर सबलता से अभिन्न कर देता है—अर्थात् प्रत्येक सबल को सजगतापूर्वक बल का दुरुपयोग नहीं करना है। बल के सदुपयोग की सद्भावना तभी उदित होगी जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह भली-भाँति अनुभव करे कि स्वरूप से शरीर और विश्व का, व्यक्ति और समाज का विभाजन सम्भव नहीं है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं, पर एक का कार्य दूसरे के सहयोग में होने से शरीर में एकता और अने-कता का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार समाज की प्रत्येक इकाई का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि प्राकृ-तिक नियमानुसार एक दूसरे के सहयोग में होता रहे तो शरीर की भाँति सारा समाज एक है और अवयवों की भाँति प्रत्येक इकाई अलग है। एकता और भिन्नता का स्पष्ट दर्शन तभी होता है जब मिला हुआ पर-हित में काम आये, व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये नहीं। यह सद्भावना प्रत्येक वर्ग, देश आदि के मानव को अपना लेना अनिवार्य है।

प्रत्येक वर्ग, देश, मज़हब एवं इज़्म के मानव यदि समाज को किसी मान्यता की सीमा में बाँध दें तो यह सामाजिक भावना की हत्या है। सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मज़हब, इज़्म की सीमा में बाँध देना दलबन्दी है, समाज नहीं। दल बन्दियाँ संघर्ष की जननी हैं। सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति की जननी है। इस दृष्टि से सामाजिक भावना बड़े ही महत्व की वस्तु है। सामाजिक भावना पुष्ट होते ही कोई वर्ग, कोई देश, कोई संगठन किसी वर्ग, देश, संगठन के साथ बल का दुरुपयोग नहीं कर सकता। असामाजिकता को स्वीकार किये बिना पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न ही नहीं होते। सामाजिक सद्भावना में सभी का हित निहित है। इतना ही नहीं, सामाजिक भावना व्यक्तिगत विकास में भी उपयोगी है, अनुपयोगी नहीं। सामाजिक भावना का वास्तविक अर्थ है सर्वात्म-भाव। इससे पूर्व सामाजिकता की चर्चा समाज को अपनी खुराक बनाना है। सामाजिक भावना व्यक्ति को समाज की खाद बनाती है। खाद उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह खाद होती है। सामाजिक भावना से युक्त मानव अपने को विभु पाता है, अर्थात् सामाजिक भावना व्यक्ति को विभु कर देती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव प्राप्त-विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखे। पालन, पोषण, शिक्षण पाकर ही मानव कुछ देने के योग्य होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि लिया हुआ देना है। लिये हुए को न देने की भावना असामाजिकता को जन्म देती है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार जो कुछ मिला है वह देने के लिए ही है, संग्रह के लिये नहीं, ममता के के लिये नहीं। मिले हुये को अपना मानना, उससे तद्रूप हो जाना कामनाओं को जन्म देना है, जो मानव को पराधीनता,

जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है। सामाजिक भावना व्यक्ति के कल्याण में साधन रूप है और व्यक्तिगत निर्माण की अभिरुचि सामाजिक भावना की जननी है। इस दृष्टि से समाज से व्यक्ति का और व्यक्ति से समाज का विकास होता है।

विकसित व्यक्ति समाज के लिए और सुन्दर समाज व्यक्तियों के विकास के लिये उपयोगी है। व्यक्ति और समाज का विभाजन उसी प्रकार है जिस प्रकार शरीर और उसके अवयवों का विभाजन। कोई भी अवयव पूरा शरीर नहीं है, पर प्रत्येक अवयव शरीर से अभिन्न है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समाज से अभिन्न भी है और उससे भिन्न भी। विवेक पूर्वक देखने से यह स्पष्ट ही है कि जो कुछ दिखाई देता है वह उसका दृश्य है जो उसे देखता है। दृश्य और देखने के साधन दोनों ही दृश्य के ही अन्तर्गत हैं। इसका अर्थ यह है कि देखने वाला एक है और देखने के साधनों में तथा दृश्य में अनेकता है। यदि दृश्य और देखने के साधन उसके अन्तर्गत न होते, जो एक है, तो इन तीनों का सम्बन्ध ही न सिद्ध होता। जो देखता है, जब वह दृश्य से सुख की आशा करता है तब वह अपने में परिच्छिन्नता और पराधीनता पाता है, पर सुखमय-दुःखमय दृश्य को देख जब मानव प्रसन्न तथा करुणित होने लगता है तब उसमें व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि नहीं रहती और न काम की ही उत्पत्ति होती है। निष्कामता और योग प्राप्त होने पर अनेकता एकता में ही विलोन होती है। उसी एकता का समर्थन करने के लिये व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता अनिवार्य है। अनेकता का उद्गम एक है और अनेकता अन्त में एक ही में विलीन होती है। अतः एक और अनेक का स्वरूप से विभाजन नहीं है।

पारस्परिक विकास में सहयोग देने के लिये ही व्यक्ति और समाज की भिन्नता और एकता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि अर्थात् विचार-पथ से समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था है और आस्तिकवाद अर्थात् विश्वास-पथ की दृष्टि से यह सब कुछ अनन्त की अनुपम लीला है एवं भौतिकवाद अर्थात् कर्त्तव्य-पथ की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक इकाई है और कुछ नहीं। जो स्वरूप एक परिवार का है, वही समाज का है। जिन साधनों से पारिवारिक विकास होता है है उन्हीं साधनों से सामाजिक विकास होता है। एक ही परिवार में युवक, युवती तथा वृद्ध और बालक रहते हैं। परिवार के वे सदस्य जो समर्थ हैं, असमर्थ बालक और वृद्ध की सेवा करते हैं। यही सद्भावना समाज के लिए भी उपयोगी है। समाज की संग्रहीत-शक्ति तथा सम्पत्ति समाज के उस भाग की सेवा में जो असमर्थता से पीड़ित है, व्यय होना चाहिए, अर्थात् रोगी, बालक, वृद्ध तथा समाज के वे इने-गिने व्यक्ति जिनका सारा समय सत्य की खोज तथा सेवा में व्यय होता है, अर्थात् समाज का जो वर्ग उत्पादन करने में असमर्थ है, संग्रहीत सब प्रकार की शक्तियाँ उसी वर्ग की सेवा के लिए हैं। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए संग्रहीत सम्पत्ति आदि का व्यय करना समाज और व्यक्ति में स्थायी भेद तथा भिन्नता को जन्म देना है, जो विनाश का मूल है। रोगी, बालक, वृद्ध उपार्जन में असमर्थ हैं और सेवा में रत तथा सत्य की खोज में लगे हुए मानव को उपार्जन का अवकाश नहीं है। इस दृष्टि से वे संग्रहीत सम्पत्ति के अधिकारी हैं। समाज के इन वर्गों की जब यथोचित सेवा नहीं होती तब सुन्दर समाज नहीं रहता। अल्पसंख्यक अधिक सुखी हो जायें और बहुसंख्यक

बहुत दुःखी हो जायें अर्थात् कुछ लोगों के पास आवश्यकता से अधिक सामग्री हो और कुछ लोगों को आवश्यक वस्तु भी उपलब्ध न हो, ऐसी भयंकर परिस्थिति में अनेकों संघर्ष उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में विचारशील मानव सेवा-परायण होकर सेवा की सद्भावना को व्यापक कर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करते हैं। सेवा का अर्थ बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं है अपितु बल का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है और सर्वहितकारी सद्भावना सेवा का भावात्मक रूप है और व्यक्तिगत सुख के प्रलोभन का नाश और अपने समान ही सभी में प्रियता स्वीकार करना सेवा का विवेकात्मक रूप है। क्रियात्मक, भावात्मक, विवेकात्मक सेवा अपना लेने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है।

व्यक्ति माली है और समाज बाटिका। बाटिका का माली बाटिका की सेवा में रत भी रहता है और उसी पर निर्भर भी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक विकास में हेतु हैं। समाज की अधिक संख्या सुन्दर व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव करती है; कारण, कि एक-एक सुन्दर व्यक्ति के पीछे अनेकों व्यक्ति चलते हैं। इस दृष्टि से समाज सेवा का क्षेत्र है और व्यक्ति सेवक है। सेवा जिसकी की जाती है उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है जो सेवा करता है। इस दृष्टि से समाज व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। पर जो मानवनिज-विवेक के प्रकाश में स्वयं अपने को सुन्दर नहीं बनाता वह सेवा नहीं कर पाता। सेवा करने के लिये सर्व प्रथम अपने को सुन्दर बनाना अनिवार्य है, जो एकमात्र प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर से ही सम्भव है। व्यक्ति का कल्याण तथा

सुन्दर समाज का निर्माण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति से सुन्दर समाज का निर्माण और निर्ममता, निष्कामतापूर्वक सहज निवृत्ति से व्यक्ति का कल्याण होता है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में होता है और सहज निवृत्ति से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है। जिसे अपने लिये त्याग अभीष्ट नहीं है उसके द्वारा सर्व-हितकारी प्रवृत्ति सम्पादित नहीं होती और जिसका हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नहीं है, उसमें त्याग का बल नहीं आता। इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन का कार्यक्रम है। इन दोनों में विभाजन करना और इनको अलग-अलग मानना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मानव स्वभाव से ही दूसरों की दृष्टि में आदर के योग्य होना चाहता है। इसी माँग से प्रेरित होकर सेवा के योग्य न होने पर भी वह सेवा करने लगता है और फिर असफल होकर पर-निन्दा में प्रवृत्त होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अंश में वह अपने को सुन्दर नहीं बना सका है, भावावेश में आकर उसी अंश में दूसरों की सेवा करने का प्रयास करने लगता है, जो नहीं कर सकता। इस दृष्टि से समाज की सेवा उसी अंश में की जा सकती है जिस अंश में अपने को सुन्दर बना लिया है। समाज का विकास और ह्रास व्यक्तियों की सजगता तथा असावधानी पर ही निर्भर है। सामूहिक माँग प्राकृतिक नियमानुसार सुन्दर व्यक्तियों को जन्म देती है। इस दृष्टि से व्यक्ति के सुन्दर होने में अदृश्य रूप से समाज भले ही हेतु हो, किन्तु समाज के उत्थान का क्रियात्मक कार्य-क्रम सजग व्यक्तियों से ही आरम्भ होता है और समाज के विनाश का बीज भी प्रमादी व्यक्तियों

से ही उत्पन्न होता है। एक-एक व्यक्ति की भूल से अनेकों परिवार नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से महत्त्व उन्हीं व्यक्तियों का है जो सजग हैं। व्यक्ति होने मात्र से समान मूल्यांकन करना किसी चतुर व्यक्ति की वह नीति है जो अनेकों व्यक्तियों को थपकी देकर उन पर शासन करना चाहता है। सुन्दर व्यक्ति स्वयं के द्वारा उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होते हैं और अदृश्य रूप से चराचर जगत् उनकी सेवा करता है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत सौंदर्य भी किसी की उदारता, सेवा तथा प्रियता ही है। व्यक्ति ने वास्तविकता की खोज की है, वास्तविकता किसी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं है। खोज से उसी की प्राप्ति होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व सदैव है। जिस प्रकार मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का ही है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सौंदर्य उसी का है जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है, जिसकी माँग बीज रूप से मानव मात्र में विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब व्यक्ति समाज की सेवा में रत रहने पर भी समाज से कोई आशा नहीं करता। समाज से आशा वे ही करते हैं जो समाज की वास्तविक सेवा नहीं कर सकते अपितु सेवा के रूप में मान और भोग का ही आह्वान करते हैं। मान और भोग की रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सम्भव नहीं है। सेवक वही हो सकता है जिसके जीवन में पर-पीड़ा सदैव रहती है। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर सेवा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है। इस दृष्टि से व्यक्ति सेवक है और समाज सेव्य। सेवक में सब कुछ सेव्य का होता है। अतः व्यक्ति में सब कुछ समाज का है। सेव्य को सेवक अति प्यारा होता है। अतः व्यक्ति समाज का प्यारा है। अपने प्यारे की महिमा

भला किसे प्रिय न होगी ? और जिसका सब कुछ है, भला वह किसे प्रिय न होगा ? इस कारण व्यक्ति समाज का प्यारा है और समाज व्यक्ति का।

अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असंग नहीं करता अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असंग करता है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से कर्त्तव्य के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित, समाज की सेवा स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक है, बाधक नहीं। अध्यात्मवाद की वास्तविकता से अपरिचित होने पर ही कोई भले ही कहने लगे कि अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में बाधक है। अध्यात्मवाद असंगता और एकता का समर्थक है; कारण, कि अध्यात्मवादी ने दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। इस कारण असंगता की बात अध्यात्मवाद में है, पर अपने से भिन्न की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से सर्वात्म-भाव की प्रेरणा अध्यात्मवाद में है। अध्यात्मवादी की सेवा अभेद-भाव से होती है, भेदभाव से नहीं। पर-सेवा से अरुचि की बात अध्यात्मवाद में नहीं है। अध्यात्मवाद का आरम्भ त्याग से होता है और अन्त सेवा में। और भौतिकवाद का आरम्भ सेवा से होता है और अन्त त्याग में। सेवा समाज के लिये और त्याग अपने लिये अनिवार्य है। सेवा में त्याग का बल, और त्याग से सेवा की सामर्थ्य स्वतः आती है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, बाधक नहीं। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद दोनों को समान ही अभीष्ट है। व्यक्ति किसी वाद को क्यों न माने, वास्तविकता की प्राप्ति के लिए कोई भी

वाद बाधक नहीं है। बाधक तो एकमात्र व्यक्ति का अपना प्रमाद है। प्रत्येक वाद का उद्गम मानव-जीवन है। जब मानव अपनी माँग और दायित्व से परिचित हो जाता है, तब उसे सभी वाद पथ से भिन्न कुछ नहीं मालूम होते । पथ चाहे जैसा हो, उस पर चलने से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती ही है। किसी भी पथ का पथिक हो किन्तु यदि बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर करता है तो सिद्धि नहीं पाता। बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर प्रत्येक मानव सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विकसित व्यक्तियों से समाज का अहित नहीं होता और विकसित समाज से किसी व्यक्ति का अहित नहीं होता; कारण, कि इन दोनों का लक्ष्य एक है। लक्ष्य की एकता होने से पारस्परिक स्नेह सुरक्षित रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह ही वह तत्त्व है जो अहितकर चेष्टाओं का अन्त कर देता है। इस दृष्टि से विकसित व्यक्ति समाज के लिए और विकसित समाज व्यक्ति के लिए सर्वदा उपयोगी ही सिद्ध होता है। स्नेह की माँग मानव की तो कौन कहे! प्राणी-मात्र को स्वभाव से है। माँग उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि स्नेह से सभी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। स्नेह का आदान-प्रदान सभी को अभीष्ट है। परन्तु व्यक्तिगत सुख-भोग का प्रलोभन तथा दुःख का भय स्नेह को आच्छादित कर लेता है, तब व्यक्ति और समाज के बीच खाई उत्पन्न हो जाती है। विद्यमान मानवता के विकसित होने पर ही व्यक्ति और समाज के बीच का भेद तथा दूरी नाश होती है। मानवता ही वह तत्त्व है जो सभी के

लिए सर्वदा हितकर है। मानवता-युक्त मानव की माँग सदैव समाज को रहती है। अमानवता का अन्त करने के लिए ही समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाओं तथा संघों का जन्म होता है। परन्तु उन सब में प्राण रूप मानवता ही है। मानवता रहित मानव न तो अपने लिये ही उपयोगी है और न अन्य के लिये। अतः मानवता व्यक्तिगत होने पर भी सामाजिक भावना से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे के लिये उपयोगी हैं। व्यक्ति और समाज में विरोध की कल्पना भ्रममूलक है।

एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओं का अन्त करने के लिये पारस्परिक सहयोग अपित करते हैं; और निर्बलताओं से रहित होते हैं तब संघ का जन्म होता है। इस दृष्टि से संघ पारस्परिक विकास का साधन-मात्र है। साधन किसी साध्य के लिये अभीष्ट है। साध्य मानव मात्र का एक ही है, वह यह कि जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो। प्रेम के अभाव में ही समस्त दोष पोषित होते हैं। प्रेम का अभाव तभी तक रहता है जब तक मानव व्यक्तिगत सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत सुख-भोग में ही करता है। व्यक्तिगत सुखासक्ति को मिटाने के लिये ही पारिवारिक प्रथा का आरम्भ होता है, परन्तु जब परिवार के सदस्य व्यक्तिगत सुख को सुरक्षित रखने के लिए पारिवारिक प्रणाली को अपनाते हैं तब परिवार और समाज में, तथा व्यक्ति और परिवार में भेद उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन व्यक्तित्त्व के मोह को पुष्ट करता है। व्यक्तित्त्व का मोह जीवन में सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति नहीं होने देता, जो अवनति का मूल है।

विकसित व्यक्तियों से ही संघ, संस्थाओं तथा राष्ट्र आदि में सुन्दरता आती है। वह सुन्दरता संघ, संस्था तथा राष्ट्र की नहीं है; कारण, कि जब उनमें विकसित व्यक्ति नहीं रहते तब परस्पर में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से यह मानना कि किस प्रणाली में सौन्दर्य है, यह धारणा भ्रम-रहित नहीं है। तात्कालिक समस्याओं को हल करने के लिए भले ही किसी प्रणाली का समर्थन तथा विरोध हो, किन्तु कोई भी प्रणाली ऐसी नहीं हो सकती कि जिसमें विकसित मानव हों और वह उपयोगी न हो। और व्यक्तित्व के मोह तथा सुखासक्ति में आबद्ध मानव सभी प्रणालियों को अनुपयोगी सिद्ध कर ही देते हैं। उपयोगिता और अनुपयोगिता किसी प्रणाली की सीमा में आबद्ध नहीं है। प्रणाली तात्कालिक समस्या का हल है किन्तु सुन्दर व्यक्तियों के द्वारा ही स्थायी रूप से समस्याओं का हल होता है। सुन्दर व्यक्तियों का प्रादुर्भाव किसी प्रणाली पर निर्भर नहीं है अपितु मानव की इस धारणा पर निर्भर है कि वह विवेक-विरोधी कर्म, विश्वास तथा सम्बन्ध का अन्त कर दे; जो व्यक्तिगत सत्संग से ही साध्य है। अपनी समस्याओं पर स्वयं विचार करने से व्यक्तिगत सत्संग सिद्ध होता है, पर यह तब सम्भव होगा जब मानव अपने ह्रास का कारण किसी और को न माने और किसी अन्य से सुख की आशा न करे अपितु पर-हित की सद्भावना से प्रेरित होकर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग करे। इससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रणालियों की आसक्ति मिट जायगी और सभी प्रणालियों से व्यक्ति और समाज का विकास होगा। प्रणाली की आसक्ति भी परस्पर एक गहरा भेद उत्पन्न करती है। अपनी-अपनी प्रणाली से अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर बनाया जाय और उस सुन्दरता

से परस्पर अनेक बाह्य भेद होने पर भी वास्तविक एकता स्थापित की जाय। यही सुगम, सहज तथा अनुपम प्रयोग है। प्रणाली का उपयोग केवल बल के दुरुपयोग करने वालों को दुर्बल बनाने में है। कोई भी प्रणाली स्थायी विधान नहीं है। स्थायी विधान तो सुन्दरता का सम्पादन कर, दूसरों को सुन्दरता पूर्वक सुन्दर बनाने में है। प्राप्त बल का उपयोग किसी को निर्बल बनाने में नहीं करना है अपितु निर्बल को सबल बनाने में करना है। सबल और निर्बल में भेद, बल के दुरुपयोग से होता है। बल का सदुपयोग सबल और निर्बल में एकता स्थापित करता है, जो विकास का मूल है। भिन्नता से ही अनेकों संघर्ष होते हैं। अत: सर्वतोमुखी विकास तथा शान्ति के लिए भिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी होगा जब अपनी-अपनी प्रणाली का अनुसरण करते हुए दूसरों की प्रणाली का आदर करें। यह सजगता पूर्वक ध्यान रहे कि अपनी प्रणाली से अपने को सुन्दर बनाना है। समाज को सुन्दरता अभीष्ट है, प्रणाली नहीं।

बल का दुरुपयोग न करने का विधान प्रत्येक संघ तथा संस्था को अपनाना है, अर्थात् मानवमात्र को बल के दुरुपयोग का अधिकार नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपनी रक्षा के लिए तो बल का दुरुपयोग किया जा सकता है? कदापि नहीं; कारण, कि बलपूर्वक सबल पर विजयी होना तो सम्भव नहीं है, बल का उपयोग केवल निर्बलों के प्रति होता है। प्राकृ-तिक-नियमानुसार निर्बलों की रक्षा में अपनी रक्षा निहित है। यदि सबल संघ, संस्था आदि अपने प्रति बल का दुरुपयोग करे तब भी उसके प्रति बुरी भावना नहीं करनी है। बलपूर्वक शरीर

आदि वस्तुओं पर अधिकार हो सकता है, पर मानव की मानवता पर कोई भी बल विजयी हो नहीं सकता। इस दृष्टि से मानव-जीवन में सबल से भयभीत होने का कोई स्थान ही नहीं है। प्रसन्नतापूर्वक शरीर आदि वस्तुओं का बलिदान कर मानवता को सुरक्षित रखना है। मानवता वह अविनाशी तत्त्व है जो मानव-समाज के हृदय पर सतत् साम्राज्य करती है। समस्त विधान सोई हुई मानवता के जगाने में ही हेतु है। अतः किसी भी संघ, संस्था, राष्ट्र, मज़हब, इज़्म में यदि जीवन है तो मानवता का। मानवता-रहित सङ्घ, संस्था आदि केवल संघर्ष को ही जन्म देती हैं, जो विनाश का मूल है। सभी के अधिकार सुरक्षित रहें और मानव सुगमतापूर्वक शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से अभिन्न हो जाय, इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी का प्रयास होना चाहिये, तभी व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है। पवित्रतम उद्देश्य को भूलकर जो विकास की बात कही जाती है वह भ्रम-मूलक है। सभी वर्गों, देशों की माँग यह है कि हमारे प्रति सबल, बल का दुरुपयोग न करें। जिसकी माँग सभी को है उसे सभी को अपनाना है। यही मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से बल के दुरुपयोग का किसी को अधिकार नहीं है। अन्याय का प्रतिकार, न्याय तथा प्रेम से ही सम्भव है। इस प्राकृतिक विधान का आदर प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश, समाज, इज़्म, मजहब आदि को करना है। ऐसा करने पर प्रत्येक वर्ग, समाज और देश स्वयं इतना सुन्दर हो जायगा कि उस पर आक्रमण करने का किसी को साहस ही न होगा; कारण, कि आक्रमण उस पर होता है जिस वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्ति निकटवर्ती जन-समाज पर अन्याय करते रहते हैं। उसी किये हुए अन्याय से एक ऐसी सामू-

हिक भावना उत्पन्न होती है जो किसी दूसरे वर्ग, देश आदि में विरोधी शक्ति उत्पन्न करती है, जो संघर्ष का मूल है। जिसने किसी के प्रति कभी अन्याय नहीं किया, उसके प्रति अन्याय करने का किसी को भी साहस नहीं हो सकता। व्यक्तिगत रूप से यह देखा-सुना जाता है कि क्षमाशीलता, अहिंसा के पुजारियों की भी हिंसा हुई। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो न्याय तथा प्रेम से युक्त है, उसके प्रति अन्याय हुआ। इस प्रकार की घटनायें उन इने-गिने व्यक्तियों के प्रति होती हैं, जिनके वास्तविक जीवन का प्रसार प्राकृतिक विधान को अभीष्ट है। निर्दोष जीवन पर जब दोष का आक्रमण होता है तब निर्दोषता की सद्भावना व्यापक होती है। शरीर आदि की भेंट दे देना निर्दोषता की अन्तिम पूजा है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने न्याय तथा प्रेम को अपना कर अपने को इतना सुन्दर बना लिया है कि जिन्हें शरीर आदि वस्तुओं की आवश्यकता ही ही नहीं है। शरीर निर्दोषता की व्यापकता में आवरण है। इस कारण जब निर्दोषता के लिये उस आवरण का बलिदान हो जाता है, तब न्याय तथा प्रेमयुक्त सद्भावनायें व्यापक होकर सतत् कार्य करती रहती हैं। इस दृष्टि से क्षमाशीलता तथा अहिंसा के पुजारियों को बलिदान देना पड़ा। यदि ऐसा न हो तो भावना के स्थान पर शरीर की पूजा हो सकती है, जो अवनति का मूल है। मानव का जीवन उसका शरीर नहीं है अपितु उसमें जो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम है वही जीवन है। शरीर का नाश हो जाना उस जीवन में कोई क्षति नहीं पहुँचाता अपितु अन्याय के प्रतिकार में वह शरीर काम आता है। किसी अन्य के विनाश से अन्याय का प्रतिकार उतना स्पष्ट नहीं होता जितना अपने व्यक्तित्व के नाश से होता है। व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध

होने पर ही तो अन्याय का जन्म होता है। अतः अन्याय के प्रतिकार के लिए यदि शरीर, प्राण तथा व्यक्तित्व का मोह गल जाय तो न्याय तथा प्रेम की भावना स्वतः व्यापक हो जाती है। वास्तविकता की व्यापकता के लिए सब कुछ देना पड़ता है। सब कुछ देने पर ही वास्तविकता का प्रसार होता है। जिसके लिए मानव प्रसन्नतापूर्वक अपना कुछ नहीं दे सकता, वह उसका प्रेमी कैसा ? न्याय अपने को निर्दोष बनाने में हेतु है और प्रेम अपने को बिभु बनाने में समर्थ है। अपने प्रति न्याय करने पर सभी के प्रति प्रेम स्वत: होता है। प्रेम की अन्तिम भेंट है 'अहम्' और 'मम' को अर्पित करना। जो शरीर अपना रहा ही नहीं यदि उसका किसी ने विनाश किया तो अपनी क्या क्षति हुई ? यह क्षति उन्हें प्रतीत होती है जो शरीर की पूजा करते हैं और वास्तविकता से दूर रहते हैं। शरीर की पूजा में अपने शरीर का अभिमान निहित है। अतः देहाभिमान रहित होने पर ही यह रहस्य स्पष्ट होता है कि अपने प्रति सर्वांश में न्याय करने पर अपने में निर्दोषता की अभिव्यक्ति होती है फिर क्षमाशीलता तथा प्रेम से अभिन्नता होती है। क्षमाशीलता तथा प्रेम को व्यापक बनाने के लिए क्षमाशीलों, प्रेमियों तथा अहिंसकों पर आक्रमण होता है जो क्षमाशीलता, प्रेम तथा अहिंसा के प्रसार में हेतु है। हिंसा का नाश तभी होता है जब अहिंसक का सर्वस्व उसकी भेंट हो जाता है। अहिंसक के प्रति की हुई हिंसा, हिंसा के नाश में हेतु है, हिंसक के नहीं। हिंसा का उत्तर हिंसा पूर्वक देने से हिंसा की भावना सबल तथा स्थायी होती है। प्राकृतिक नियमानुसार क्रोध पर क्षमाशीलता, हिंसा पर अहिंसा और द्वेष पर प्रेम विजयी होता है। पर उसके लिए क्षमाशील, अहिंसक तथा प्रेमियों को शरीर आदि सर्वस्व देना पड़ता है।

प्राप्त बल का दुरुपयोग न करने पर उत्तरोत्तर बल की वृद्धि होती है। यदि यह नीति प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग तथा देश अपनाये तो सभी सबल हो जायेंगे और फिर परस्पर संघर्ष का जन्म ही न होगा। बल के दुरुपयोग से ही निर्बलता पोषित होती है और संघर्ष का जन्म होता है। बल के दुरुपयोग न करने की नीति का अनुसरण मानव-मात्र को करना है तभी ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसे किसी शासक की आवश्यकता न होगी। देश तभी किसी से शासित होता है जब देश-वासी परस्पर बल का दुरुपयोग करते हैं। बल के दुरुपयोग से अन्याय का प्रतिकार करने पर अन्याय किसी न किसी अंश में जीवित रहता है, जो कालान्तर में पुन: सबल हो जाता है। यदि अन्याय का सर्वांश में नाश करना है तो बल के दुरुपयोग न करने की नीति को अपना लेना अनिवार्य है।

बलपूर्वक अन्याय को दबाने से अन्याय का सर्वांश में नाश नहीं होता। अन्याय का नाश होता है अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम और क्षमा का व्यवहार करने से। बल पूर्वक बल का दुरुपयोग रोकने का प्रयास बल के दुरुपयोग को मिटाने में सफल नहीं हुआ और न सम्भव है। शक्ति का बहुत बड़ा भाग न्यायशाला, पुलिस, फौज आदि में व्यय हो जाता है। शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवनोपयोगी कार्य अधूरे रह जाते हैं। यदि मानव-समाज अन्याय पर न्याय से, क्रोध पर क्षमा से और द्वेष पर प्रेम से विजयी होने का प्रयास करे तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक बल के दुरुपयोग की भावना का नाश हो सकता है। जो उपाय व्यक्तिगत विकास में हेतु है, वही सामूहिक विकास में भी समर्थ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब व्यक्तिगत जीवन

सुन्दर हो, जो एकमात्र बल के दुरुपयोग न करने में ही निहित है। किसी से शासित रहने के समान मानव-जीवन का और कोई अपमान नहीं है। अपने पर अपना शासन करने पर ही मानव, पर के शासन से मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

यह सभी को विदित है कि जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम एवं प्राकृतिक पदार्थों से ही होता है और उन वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में करना अनिवार्य है। परन्तु जब आवश्यक वस्तुओं के बदले में मानव ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने लगता है जो दीर्घ काल तक सुरक्षित रह सकती हैं और उनके बदले में अन्य वस्तुएँ मिल सकती हैं तब समाज में कुछ लोग अधिक सुखी और कुछ लोग अधिक दुखी हो जाते हैं। जब तक मानवता के नाते सुखी-दुःखी वर्ग एक-दूसरे से सहयोग रखते हैं तब तक विप्लव दबा रहता है परन्तु जब श्रम और संग्रह अर्थात् परिश्रम और परिग्रह में परिग्रह का मूल्य बढ़ जाता है और परिश्रम का घट जाता है तब व्यक्ति वस्तु के अधीन हो जाता है। उसका बड़ा ही भयङ्कर परिणाम यह होता है कि परिग्रही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमिकों को अपने अधीन कर लेता है। परिग्रह से विलास तथा आलस्य का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा उपयोग प्राणियों की सेवा में ही करना न्याय-युक्त है। समाज का वह वर्ग जो उपार्जन में असमर्थ है उसी के निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उस पर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत। जब व्यक्तियों में दोष आ जाते हैं तब व्यक्तिगत परिग्रह के विरुद्ध आवाज उठती है, पर राष्ट्रगत परिग्रह के

उपयोग की व्यवस्था भी तो व्यक्तियों के द्वारा ही होती है। राष्ट्र का जन्म किसी भी प्रणाली से हो परन्तु उसे जनता का ही प्रतिनिधि माना जाता है। जब तक राष्ट्र के कर्मचारियों में यह सद्भावना रहती है कि हम जनता के सेवक हैं तब तक तो व्यवस्था यथावत चलती है, किन्तु जब पदलोलुपता एवं सुखासक्ति राष्ट्रगत प्रबन्धकों में आ जाती है तब परिग्रह का दुरुपयोग होने लगता है और फिर उस राष्ट्र के अनर्थ से जनता-जनार्दन को बचाना कठिन हो जाता है। व्यक्तिगत परिग्रह में तो परिग्रह का ही बल है। परन्तु राष्ट्रगत परिग्रह में एक शासन का वैधानिक बल भी है। व्यक्ति के बिगड़ जाने पर कोई भी प्रणाली हितकर सिद्ध नहीं होती। सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सुन्दर व्यक्तियों के ही द्वारा होता है, राष्ट्र के द्वारा नहीं। परिग्रह-रहित मानव सेवा की सद्भावना तथा प्रेम से पूर्ण एवं राग-द्वेष रहित होकर ही सुन्दर मानव का निर्माण कर सकते हैं अर्थात् मानवता के बल से ही सुन्दर मानव होते हैं। परिग्रह एवं शासन के बल पर सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से अपरिग्रही मानव का बड़ा महत्त्व है, पर समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, इससे भी कालान्तर में बड़ा ही अनर्थ हो सकता है। राष्ट्रगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही प्रणालियाँ तभी हितकर सिद्ध होती हैं जब व्यक्ति सुन्दर हों।

संग्रह का अधिकार उन्हीं लोगों को है जो अपने लिये संग्रह नहीं करते। समाज के बालक, समाज की सम्पत्ति और समाज के वे मानव जिन्होंने जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन का व्रत लिया है इन्हें एक स्थान पर आजाना

चाहिये अर्थात् सेवक और सेव्य के साथ ही परिग्रह उपयोगी सिद्ध होता है। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये ही परिग्रह के त्याग की बात है। राष्ट्र का आश्रय लेकर सेवा तब सम्भव होती जब राष्ट्र के कर्मचारी सेवक होते। भोगी के द्वारा सेवा की बात सेवा का उपहास है, और कुछ नहीं। जिसे व्यक्तिगत मान और भोग की भूख है, भला वह कैसे निष्पक्ष सेवा कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता की भावना भले ही उपयोगी हो, पर शासक होने का प्रलोभन तो सर्वथा अनर्थ का ही मूल है। सत्ता के अभिमान में आबद्ध होने पर राष्ट्रों द्वारा क्या नहीं हुआ ? यह विचारणीय प्रश्न है। समाज के कर्णधार वे ही मानव हो सकते हैं जिन्होंने जीवन विभाजन किया है और प्राणी-मात्र के साथ सर्वात्म भाव अपनाया है। ऐसे मानव ही परिग्रह के अधिकारी हैं। जिस प्रकार उदर शरीर के पोषण के लिए कुछ काल अपने में संग्रह करता है, किन्तु उसका उपयोग अपने ही तक सीमित नहीं रहने देता, उसी प्रकार उदार मानव ही परिग्रह का सदुपयोग कर परस्पर एकता स्थापित कर सकते हैं। सिद्धांततः सम्पत्ति न राष्ट्रगत है, न व्यक्तिगत। संग्रहीत सम्पत्ति उन्हीं का भाग है जो रोगी, बालक तथा सेवा परायण हैं एवं सत्य की खोज में रत हैं। अब यदि कोई यह कहे कि राष्ट्रगत सम्पत्ति के बिना एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आक्रमण से कैसे बचेगा ? तो इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस समाज में मानव-निर्माण की यथेष्ट व्यवस्था है उस समाज के प्रत्येक युवक तथा युवती में राष्ट्रीयता स्वतः सुरक्षित रहेगी। देश की सुरक्षा के नाम पर जो अन्धाधुन्ध अर्थ का व्यय होता है, यहाँ तक कि रोगियों के लिये परिचर्या-भवन और बालकों के लिये बाल-

निकेतन और उनमें सेवा करने वाले अपरिग्रही सज्जनों के लिये नहीं के समान ही व्यय होता है, उसका परिणाम यह होता है कि युवक और युवतियों के ऊपर बालक, रोगी तथा वृद्धों का भार रहता है। उससे दबे हुए युवक और युवती निर्भीक तथा निश्चिन्त नहीं हो सकते। भय और चिन्ता में आबद्ध मानव में वीरता नहीं रहती अपितु कायरता आजाती है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित हो जाती है। जिसके होने से राष्ट्र निर्बल हो जाता है और फिर ऐसे बल की खोज करता है कि अल्प-संख्यक बहुसंख्यक का विनाश कर सकें। इस विनाशकारी भावना का नाश तभी हो सकता है जब प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र के प्रति अविचल आस्था हो, जीवन में राष्ट्रीयता हो परन्तु अमानवता की गंध भी न हो। शान्त तथा प्रसन्न रहें और दूसरों को रहने दें। कतिपय व्यक्तियों की भूल से समाज की बहुत बड़ी क्षति होती है। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता भले ही समाज को अपेक्षित हो पर राष्ट्र अपेक्षित नहीं है। राष्ट्रीयता का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना अनुशासन। अपने पर अपना अनुशासन करने से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। निर्दोष जीवन की माँग सभी को सदैव है। अतः निर्दोष मानव ही परि-ग्रह के अधिकारी हैं।

यह तभी सम्भव होगा जब वस्तु-विभाजन के स्थान पर जीवन विभाजन का निर्णय किया जाय। अर्थात् प्रत्येक मानव सार्वजनिक सेवा के लिये अपने जीवन का विभाजन करे। सार्वजनिक जीवन होने पर ही सर्वहितकारी सद्भावना पोषित होती है। केवल वस्तु विभाजन मात्र से वस्तु का महत्त्व नहीं घट जाता अपितु वस्तुओं की दासता ज्यों की त्यों रहती है।

वस्तुओं की दासता में आबद्ध मानव व्यक्तिगत सुख के लिये परिग्रह करने लगता है जो अवनति का मूल है। जितेन्द्रियता तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन से युक्त सेवा में रत मानव की गोद में ही बालक-बालिकाओं का पोषण तथा शिक्षण हो तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है। मोह की गोद में पले हुए बालक में नैतिकता का विकास नहीं होता और अर्थ के आधीन पले हुए बालक में हृदयशीलता विकसित नहीं होती; इस कारण समाज के बालकों को अर्थ और मोह का गोद में नहीं पलना चाहिये। मानवता की गोद में पले हुए बालक में ही मानवता विकसित होगी अर्थात् सेवा, त्याग, प्रेमपूर्वक पोषित बालक ही वास्तविक नैतिकता एवं हृदयशीलता से युक्त होंगे। रोगी परिचर्या भी उन्हीं के द्वारा यथेष्ट होती है जो सेवा-परायण हैं। वे ही सेवा-परायण मानव जो सत्य की खोज में रत हैं एवं राग रहित हैं विधान बना सकेंगे और उस विधान का पालन मानव-समाज में करा सकेंगे। यही वास्तविक राष्ट्रीयता है। विनाशकारी सामान के बल पर राष्ट्रीयता के गीत गाने वाले एक बड़े डाकुओं के दल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। बलपूर्वक निर्बल को दबाना और मनमानी करना क्या राष्ट्रीयता है? कदापि नहीं। राष्ट्रीयता न्याय की स्थापना है जो अपने द्वारा अपने प्रति हो सकती है। इस दृष्टि से न्याय किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है, तो फिर राष्ट्रगत न्यायशाला क्या अर्थ रखती है? राष्ट्र के रहते हुए भी अन्याय निर्मूल नहीं हुआ, इस सत्य से कोई भी विचारशील अपरिचित नहीं है। फिर भी राष्ट्र की माँग अनुभव करना और राष्ट्रीयता से विमुख होना क्या व्यक्तिगत मान और भोग के अतिरिक्त कुछ और है? विचार करें—मान और भोग का पुजारी भला कब निष्पक्ष हो

सकता है ? निष्पक्ष वही हो सकता है जिसे सार्वजनिक हित में ही व्यक्तिगत हित का दर्शन होता है।

यह सभी को विदित है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी व्यक्ति, वर्ग, देश की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। उस पर सभी का स्वत्व है। उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों से, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से, समाज हितकारी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। मूल साधन प्राकृतिक होने के कारण उत्पादन कर्त्ताओं पर यह दायित्व है कि वे उत्पादित वस्तुओं में व्यक्तिगत संग्रह की भावना न रखें। अपितु एक देश का उत्पादन दूसरे देश के लिये भी उपयोगी सिद्ध हो। यही वास्तविक वाणिज्य है। वणिक समाज का उदर है। उदर की भाँति व्यापारी वर्ग को उदार होना चाहिये। व्यापार की यह नीति कि उत्पादित वस्तु अधिक से अधिक महँगी हो जाय और उत्पादन के साधन सस्ते हो जायें सर्वथा त्याज्य है। इस नीति ने ही अल्पसंख्यक को सुखी और बहुसंख्यक को दुःखी किया है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह के स्थान पर संघर्ष का जन्म हो जाता है। उत्पादक-हृदय माँ जैसा हो। जिस प्रकार माँ सभी छोटे-बड़े बालकों की आवश्यकता पूरी करती है उसी प्रकार व्यापारी वर्ग के हृदय में यह सद्भावना रहे कि सभी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जायें। इस दृष्टि से व्यापार एक बड़ी ही आवश्यक सेवा है। व्यापारी वर्ग परस्पर सहकारिता को अपनायें और प्रतियोगिता का त्याग करें। बौद्धिक श्रमी वर्ग यदि अपनी योग्यता का उपयोग सर्वहितकारी कार्य में करें, तो शारीरिक श्रमी एवं पूँजी का संग्रही तो बौद्धिक श्रमी का विरोध कर ही नहीं सकते। जिस देश, वर्ग, समाज का शिक्षित व्यक्ति स्वार्थ-

परायण हो जाता है, अर्थात् व्यक्तिगत सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है वही वर्ग, देश, समाज विनाशोन्मुख होता है। शिक्षित व्यक्तियों के सहयोग के बिना विकास और ह्रास होता ही नहीं। यदि कोई वर्ग, देश, समाज, अवनति की ओर जा रहा है तो यह मानना ही होगा कि शिक्षित वर्ग मानवता से विमुख हो गया है। शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। सामर्थ्य के आश्रय से ही ह्रास और विकास होता है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर स्वतः विकास होने लगता है। राष्ट्र और वर्ग के पतन का कारण शिक्षित समाज का पथ-भ्रष्ट होना है। शिक्षित वर्ग को राग-रहित पुरुषों का परामर्श मानना अनिवार्य है अथवा शिक्षित वर्ग स्वयं रागरहित होने का प्रयास करे तभी सुन्दर समाज का निर्माण तथा पारस्परिक संघर्ष का अन्त एवं सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। यह सभी को विदित है कि जब बुद्धि विवेकवती नहीं रहती तब मन में अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं जिनके होते ही दुर्गुण, दुराचार आदि दोषों की उत्पत्ति होती है; और जब बुद्धि विवेकवती हो जाती है तब मन निर्विकल्प हो जाता है और इन्द्रियाँ सच्चरित्र हो जाती हैं अर्थात् सद्‌गुण सदाचारों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तिगत जीवन में जो बुद्धि का स्थान है वही समाज में शिक्षित व्यक्ति का, जो मन का स्थान है, वही राष्ट्र का और जो इन्द्रियों का स्थान है वही प्रजा का है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शिक्षित वर्ग के रागरहित होने से सभी अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हो जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षित वर्ग पर सभी के विकास का दायित्व है।

विधान किसी व्यक्ति की उपज नहीं है। विधान की खोज वे ही इने-गिने मानव कर पाते हैं जो राग-रहित हैं। राग-युक्त

मानव वास्तविकता से अपरिचित रहता है। इस दृष्टि से विधान बनाने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नहीं है, परन्तु किसी प्रति-हिंसा की भावना से प्रेरित होकर यह मान लेना कि प्रत्येक मानव विधान-सभा का सदस्य हो सकता है, भ्रममूलक ही है। यह सभी को विदित ही है कि विधान का प्रयोग करने के लिए बड़े-बड़े अधिवक्ताओं की अपेक्षा होती है फिर भी विधान के अर्थ-निरूपण में भिन्नता होती है, जिससे वास्तविकता का निर्णय हो नहीं हो पाता। अब विचार यह करना है कि जिस विधान का अर्थ समझने के लिए अधिवक्ताओं की अपेक्षा है क्या उस विधान को बनाने का अधिकार जन-साधारण को देना उचित है? कदापि नहीं। क्या रोगी के रोग का निर्णय बहुमत से होगा? अथवा योग्य चिकित्सक से? विधान मंगलकारी तथ्य है। उसका ज्ञाता वही हो सकता है जो देहाभिमान, पक्षपात, राग, द्वेष आदि विकारों से रहित हो। जन-साधारण को तो विधान का आदरपूर्वक पालन करना है। वे विधायक नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, किसी राष्ट्र को भी विधान बनाने का अधिकार नहीं है; कारण, कि राष्ट्र को अपनी भूल का ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विधान वीतराग पुरुष ही बना सकते हैं। राष्ट्र का निर्वाचन भी जन-साधारण के द्वारा करना राष्ट्र को एकदेशीय बना देना है जो पक्षपात रहित हो ही नहीं सकता। राष्ट्र के निर्वाचन का अधिकार भी उन्हीं इने-गिने व्यक्तियों को है जिन्होंने अपना जीवन समाज सेवा में अर्पित किया है पर उन्हें स्वयं राष्ट्र होने का अधिकार नहीं है। सेवा करने वाला वर्ग राष्ट्र और प्रजा के बीच में स्नेह तथा विश्वास की स्थापना कर सकता है; कारण, कि सेवक दोनों के कर्त्तव्य से परिचित होता है। उसके हृदय में दोनों ही के प्रति सद्भावना रहती है।

ऐसा न करने से राष्ट्र और प्रजा के बीच में सदैव संघर्ष होता रहता है और राष्ट्र की शक्ति का बहुत बड़ा भाग अपनी सुरक्षा में व्यय होता है, प्रजा के हित में नहीं। इस कारण राष्ट्र का निर्वाचन बहुमत के आधार पर न किया जाय अपितु देश के वे इने-गिने व्यक्ति जो सेवा-परायण हैं राष्ट्र का निर्वाचन करें और उन सेवा-परायण महानुभावों में जो वीतराग हैं वे विधान बनावें। अब यदि कोई यह कहे कि हम वीतराग को कैसे जानें ? इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सत्-पथ पर अग्रसर मानव स्वयं प्रकाशित हो जाता है। क्या महत् पुरुषों को किसी निर्वाचन से स्वीकार किया जाता है ? कदापि नहीं। विकसित मानव स्वयं अपने प्रकाशन में आप समर्थ होता है। क्या समय-समय पर पद्धतियों का निर्माण बहुमत से हुआ है ? अथवा निर्माणकर्ता स्वयं प्रगट हुए हैं। बहुमत ने उनका स्वागत किया है, उनका निर्वाचन नहीं। प्रत्येक काल में, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक देश तथा समाज में यह अपने आप प्रकट हो जाता है कि जन-समाज को किसके पथ-प्रदर्शन में रहना है। अतः वीतराग पुरुषों का निर्वाचन किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। सेवा और प्रीति से युक्त मानव उस विधान से अभिन्न होता है जो मंगलमय है पर जब तक मानव को यह भासित होता है कि मुझ में सेवा तथा प्रीति है तब तक वास्तविक विधान से अभिन्न नहीं होता। जब सेवा और प्रीति तो रहे पर उसमें अहम् भाव की गन्ध भी न रहे तब अनन्त के मंगलमय विधान से अभिन्नता होती है। अतः जो विधान अनन्त के मंगलमय विधान से अनुप्राणित नहीं है वह विधान सर्वहितकारी नहीं हो सकता। विधान की खोज करना है, विधान किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत उपज नहीं है। विधान

की खोज प्रत्येक मानव कर सकता है पर उसके लिए सर्वात्म-भाव स्वीकार करना, अहम् और मम से रहित होना अनिवार्य है। जिसे विधायक होना हो, वह विधान से अभिन्न होने के लिए प्रयास करे। सभी विधायक हो सकते हैं, यह बात इसी अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि राग-रहित होने का दायित्व मानव-मात्र पर है। अतः प्रत्येक मानव अपने को इतना सुन्दर बनाये कि उसका जीवन विधान हो जाय। जीवन और विधान की एकता होने पर किसी प्रकार की सुख-लोलुपता नहीं रहती अपितु उसका जीवन सेवा, प्रेम एवं निरभिमानता से युक्त हो जाता है। जिसमें निरभिमानता आ जाती है वह सभी से अभिन्न हो जाता है और तभी उसके जीवन में सर्वहितकारी विधान की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविक विधान की अभिव्यक्ति तो सृष्टि से पूर्व ही होनी चाहिए; कारण, कि समष्टि शक्तियाँ क्या विधान रहित कार्य करती हैं ? कदापि नहीं। मानव उस विधान से अभिन्न हो सकता है, पर विधान किसी मानव का बनाया हुआ नहीं है। उसी अनन्त के विधान का प्रतीक मानव में निज विवेक है। निज विवेक का आदर करने पर कर्त्तव्य, निज-स्वरूप और अनन्त की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। अतः विवेकवित् मानव ही विधान की खोज कर सकते हैं और विवेकवित् होने का दायित्व प्रत्येक मानव पर है।

दुःख की समस्या

यह मानव-मात्र को विदित ही है कि जो न चाहने पर भी आ जाता है वही दुःख है और जो चाहते हुए भी चला जाता है वही सुख है। दुःख-सुख की अनुभूति मानव-मात्र को होती है। नवजात शिशु भूख से पीड़ित होकर रोने लगता है। इस दृष्टि से दुःख मानव की सर्वप्रथम अनुभूति है। दुःखी को देख किसी न किसी के हृदय में करुणा अवश्य जाग्रत होती है। करुणित मानव पर-दुःख को अपनाता है और निज-सुख को दुःखो की सेवा में व्यय करता है। दुःखी दुःखकाल में पराधीनता से व्यथित होता है। पराधीनता की व्यथा स्वाधीनता की लालसा जाग्रत करती है। जो न चाहने पर आता है वह प्राकृतिक विधान है, व्यक्ति का उपजाया हुआ नहीं है। सुख चाहते हुए भी चला जाता है, मानव में केवल सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टि से दुःख का आना और सुख का जाना वैधानिक तथ्य है।

अब विचार यह करना है कि दुःख क्यों है? यदि जीवन में से दुःख का भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुख का सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुख की दासता से रहित हो सकता है। सुख का सम्पादन और उसकी दासता से रहित करने

में दुःख ही हेतु है। दुःख मानव जीवन का आवश्यक अंग है, फिर भी सभी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जो स्वभाव से प्रिय नहीं है, वह जीवन नहीं है, और जिसमें स्थायित्व नहीं है वह भी जीवन नहीं है। इस दृष्टि से दुःख तथा सुख वास्तविक जीवन नहीं है, अपितु दुःख-सुख के सदुपयोग में जीवन है। अब यदि कोई यह कहे कि दुःख तो कर्म का फल है तो यह मानना एकदेशीय दृष्टि से भले ही सत्य प्रतीत हो, किन्तु सभी दृष्टियों से यह वास्तविकता नहीं है। विश्व के इतिहास में क्या कोई ऐसा व्यक्ति हुआ है अथवा है जिसने किसी न किसी अंश में दुःख का अनुभव न किया हो? तो क्या एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सका जो ऐसा कर्म न करता जिससे दुःख होता है? अर्थात् दुःख का अनुभव सभी को होता है। अतः केवल कर्म ही दुःख का कारण नहीं है। दुःख की उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है, क्या उसका अनुभव दुःख के रहते हुए सम्भव है? कदापि नहीं। दुःख-निवृत्ति का प्रश्न मानव का प्रश्न है, पर जब दुःख नहीं था तब मैं था यह अनुभव यदि होता तो दुःख कब से आरम्भ हुआ और क्यों आरम्भ हुआ, इसका निर्णय सम्भव था। जब तक दुःख का सर्वांश में अन्त न हो जाय तब तक दुःख के कारण का बोध सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दुःख के नाश का प्रश्न मौलिक प्रश्न है। सुख-लोलुपता के रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दुःख का अन्त सम्भव है? कदापि नहीं। यदि आया हुआ सुख स्वभाव से नाश न होता, तो सुखासक्ति को रखते हुए दुःख मिट सकता था, पर यह प्राकृतिक नियम से सिद्ध नहीं है कि सुख का नाश न हो। जो नहीं रहता, उसकी आसक्ति भूल के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। 'नहीं' की आसक्ति ने ही मानव को उससे विमुख किया है जो सर्वकाल में है। दुःख के प्रभाव से प्रभावित बिना

हुए सर्वांश में सुखासक्ति का नाश सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दुःख विकास की भूमि है। दुःख का भय तभी तक रहता है जब तक मानव पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध है। अतः दुःख पराधीनता का अन्त करने के लिये, बिना बुलाये आता है। क्या इस निज अनुभव से यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि जो दुःख पराधीनता से रहित करने के लिये आया है वह मंगलमय विधान से आया है, अथवा उसकी देन है जो मानव को पराधीनता से रहित करना चाहता है। मानव उसे भले ही न जाने जिसने दुःख का निर्माण किया है, पर दुःख का प्रभाव मानव के लिये सर्वतोमुखी विकास में हेतु है, यह स्वीकार करने के लिये वह बाध्य है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में, बुद्धि-दृष्टि से देखने पर यह विदित होता है कि कामना अपूर्ति तथा पूर्ति में ही दुःख-सुख का भास होता है। कामनाओं का उद्‌गम स्वीकृति में अहम् बुद्धि और प्रतीति में मम-बुद्धि है--अर्थात् अहंता तथा ममता से ही दुःख-सुख का जन्म होता है। अहम् और मम अविवेक-सिद्ध हैं। निज-विवेक का आदर करने पर अहम् और मम शेष नहीं रहते और फिर दुःख का भय तथा सुख की दासता भी नहीं रहती। सुख की दासता का सर्वांश में अन्त होते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टि से निज विवेक का अनादर, अर्थात् अपनी भूल ही मानव को सुख-दुःख में आबद्ध करती है। अब यदि कोई यह कहे कि मानव निज विवेक का अनादर क्यों करता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि निज विवेक के अनादर का बोध क्या मानव को नहीं है? यदि है तो उसका कारण उसमें स्वयं ही उपस्थित होगा, तो फिर तो उसका

समाधान अपने ही द्वारा करना होगा। यदि यह कहा जाय कि मानव को निज-विवेक के अनादर का ज्ञान ही नहीं है, तो उसके कारण की खोज का प्रश्न ही नहीं हो सकता। अतः विवेक के अनादर का कारण क्या है ? यह प्रश्न जब अपना वर्तमान का प्रश्न हो जावेगा, तब उसके हल की सामर्थ्य स्वतः मानव में अभिव्यक्त होगी। इस दृष्टि से इस प्रश्न का उत्पन्न होना ही हल में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि भूल जाने हुए की होती है। जिसे नहीं जानते, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि भूल गये। मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर बैठता है, इसी कारण वह जाने हुए को भूलता है। यदि मानव-जीवन में स्वाधीनता न होती तो भूल भी न होती। अन्य प्राणियों में प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कार्य करने की क्षमता नहीं है। पर मानव कभी बिना भूख भी खाता है और कभी भूख लगने पर भी नहीं खाता, अर्थात् मानव वह भी करता है जो करना चाहिये, और वह भी कर बैठता है जो नहीं करना चाहिये। इतना ही नहीं, ऐसी कामनायें भी रखता है जिन्हें वर्तमान में पूरा नहीं कर सकता। अनावश्यक कार्यों को जमा रखना और आवश्यक कार्य को पूरा न करना तथा न करने वाले कार्य को भी कर डालना यह स्वाधीनता मानव में जन्म-जात है। स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर दुःख का प्रादुर्भाव स्वतः होता है, जो सजगता प्रदान कर मानव को सत्-पथ दिखाता है। स्वाधीनता के दुरुपयोग का परिणाम है—दुःख का प्रादुर्भाव। अतः प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

यदि मंगलमय विधान से मानव को स्वाधीनता न मिलती तो मानव और मानवेतर प्राणी का भेद ही स्पष्ट न होता। मानव साधक है। साधक पर दायित्व होता है और उसकी कोई मांग होती है। मानवेतर प्राणियों में कामना है। वे साधक नहीं हैं। इस कारण उन पर कोई दायित्व नहीं है। उन्हें कामना पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख प्राकृतिक विधान से भोगना पड़ता है। जिस अंश में मानव सुख-दुःख भोगता रहता है, उस अंश में मानव-आकृति होने पर भी मानव मानव नहीं है। मानव में मानवता तभी से आरम्भ होती है जब वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज करता है। इस मौलिक मांग की जाग्रति से पूर्व मानव प्राणी है, मानव नहीं।

दुःख क्या है, और क्यों है? यह प्रश्न मानव का प्रश्न है, प्राणी का नहीं, बेचारे मानवेतर प्राणी तो सुख-दुःख भोगते हैं। मानव को यह विशेषता, जो अन्य प्राणियों में नहीं है, किससे मिली है? यह प्रश्न भी मानव का ही प्रश्न है। यदि यह विशेषता उसकी अपनी जन्म-जात है तो सुख-दुःख में आबद्ध क्यों हुआ? सुख-दुःख से अतीत के जीवन में क्यों नहीं संतुष्ट हुआ? कारण, कि जिसकी निवृत्ति अभीष्ट है उसमें अपने आप आबद्ध क्यों होता? अतः अन्य प्राणियों से विशेषता मानव को उससे मिली है जिसे वह भले ही न जानता हो, पर जिसने दी है वह मानव को जानता है। जब मानव यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह किसी की देन है, तब उसमें उस बिना जाने हुए की आस्था उदित होती है, अथवा जो मिला है वह क्या है, मैं क्या हूँ आदि जिज्ञासा जाग्रत होती है। आस्था और जिज्ञासा मानव में ही होती है। जिज्ञासा उसकी, जिसकी प्रतीति है और आस्था उसकी जिसकी माँग है। यदि मानव ने प्राप्त बल

का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर न किया होता तो मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व भी मानव पर न होता। मानव साधक है। साधक होने के नाते मिले हुए के दुरुपयोग न करने का, प्रतीति की जिज्ञासा का एवं जिसे नहीं जानता है उसकी आस्था का दायित्व है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर कर्त्तव्य-परायणता स्वतः आती है और जाने हुए का आदर करने पर असंगता प्राप्त होती है एवं बिना जाने में आस्था होने पर स्वतः शरणागति उदित होती है। कर्त्तव्य-परायणता से जोवन जगत् के लिये, असंगता से जीवन अपने लिये एवं शरणागति से जीवन उसके लिये, जिसे मानव नहीं जानता, उपयोगी होता है। बल, विवेक और आस्था जिसने दी है उसे ही मानव नहीं जानता। जिसे नहीं जानता उसी की शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है। भौतिकवाद की दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि से असंगता और आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही सर्वतोमुखी विकास का मुख्य साधन है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता और प्रेम को अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

अतः दुःख का आना, सुख का जाना मानव-हितकारी विधान है। दुःख से भयभीत होना और सुख में आबद्ध रहना मानव का प्रमाद है, जिसका अन्त करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। दुःख के प्रभाव ने ही दुःखी को दुःखहारी से अभिन्न किया है। इस दृष्टि से दुःख जीवन का बहुत ही आवश्यक अङ्ग है। दुःख से वे ही भयभीत होते हैं जिन्हें दुःखहारी से अभिन्न नहीं होना है। अब यदि कोई यह कहे कि दुःखहारी कौन है? उसमें आस्था करना तो एकमात्र बिना जाने हुए में आस्था

करना है। क्या जो इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि से देखने में आता है, वह आस्था के योग्य है? उसकी आस्था ने ही तो ममता, कामना तथा तादात्म्य को जन्म दिया है, जिसके कारण मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध हुआ है, जो किसी को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। अतएव, यह स्पष्ट ही विदित है कि देखा हुआ आस्था के योग्य नहीं है। इस दृष्टि से यदि आस्था हो सकती है तो एकमात्र उसी में, जिसे जानते नहीं हैं। यदि किसी को बिना जाने की आस्था अभीष्ट नहीं है तो उसे अपने को आस्था से रहित करना होगा। आस्था से रहित होने पर भी जो 'है' उसका बोध स्वतः होता है; कारण, कि 'है' का होना किसी की स्वीकृति और उसका न होना किसी की अस्वीकृति पर निर्भर नहीं है। 'है' की स्वीकृति 'है' की आत्मीयता प्रदान कर 'है' को प्रियता से अभिन्न करती है और आस्थारहित होने पर स्वतः 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति होती है। परन्तु देखे हुए की आस्था भी तो दुःख के प्रभाव से ही नाश होती है। दुःख का प्रभाव उनके लिये भी आवश्यक है जिन्होंने दुःखहारी को आस्थापूर्वक स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, दुःख का प्रभाव ही स्वार्थ-भाव का अन्त कर सेवा-परायण कर देता है— अर्थात् सेवक सुखासक्ति से रहित, सेवा से अभिन्न हो, अनेकता में एकता अनुभव कर, विषमता से रहित समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। विषमता की भूमि में ही भोग-वासनाओं की उत्पत्ति होती है, जो मानव को रोग तथा शोक में आबद्ध करती है और समता के साम्राज्य में ही नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव को वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिये दुःख विकास का हेतु है, परन्तु सुखासक्ति के साथ-साथ दुःख भोगते रहना कुछ अर्थ नहीं रखता,

अपितु नवीन दु:ख का जन्म ही होता रहता है। दु:ख की महिमा वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने दु:ख के प्रभाव से सुखासक्ति का सर्वांश में अन्त कर दिया है। सन्देह की वेदना ने ही मानव को तत्वज्ञान से अभिन्न किया है और पराधीनता की पीड़ा ने ही मानव को स्वाधीनता प्रदान की है। भोग-जनित व्यथा ने ही मानव को नित्य-योग प्रदान किया है। इस दृष्टि से दु:ख की महिमा जितनी कही जाय कम है। जो मानव दु:खहारी से अभिन्न हुए, उन्होंने दु:ख को प्रियतम का सन्देश जाना और जो 'है' से अभिन्न हुए, उन्होंने दु:ख को राग-निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वीकार किया और जिन्होंने सेवा होकर समता के साम्राज्य में प्रवेश पाया, उन्होंने दु:ख को विकास की भूमि स्वीकार किया। इतना ही नहीं, सभी ने दु:ख को अपना कर ही अपने को दु:ख का ऋणी बनाया; कारण, कि जिस दु:ख ने सभी को सब कुछ दिया उस दु:ख को किसी ने कुछ नहीं दिया। अपितु उसकी निन्दा ही की। दु:ख वही निन्दनीय है जो सुख की दासता की ओर गतिशील करता है, अर्थात् दु:ख निन्दनीय नहीं है अपितु सुख की दासता निन्दनीय है। सुख की दासता को जीवित रखना और दु:ख की निन्दा करना, यह दु:ख के प्रति बड़ी ही कृतघ्नता है। जो सुख चाहते हुए भी चला गया उसकी दासता बनाये रखना और जिस दु:ख से सर्वतोमुखी विकास हुआ, उससे भयभीत होना, उसके प्रभाव को न अपनाना, प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विकसित मानव सुख देकर दु:ख अपनाते हैं और जो पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं, वे दूसरों को दु:ख देकर सुख का सम्पादन करते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार

सुख देकर जो दुःख लिया जाता है वह मानव को आनन्द से अभिन्न करता है और जो दुःख देकर सुख सम्पादन किया जाता है, वह मानव को घोर दुःख में आबद्ध करता है। इस दृष्टि से सजग तथा सावधान मानव प्राप्त सुख को देकर हर्ष पूर्वक दुःख को अपनाते हैं और दुःख देकर सुख का सम्पादन नहीं करते हैं। सुख 'पर' की वस्तु है और दुःख अपनी; कारण, कि यदि सुख को अपनाया तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश किया और यदि दुःख को अपनाया तो मानव सर्वतोमुखी विकास का अधिकारी हुआ। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि समस्त विकारों की भूमि सुखासक्ति, और विकास की भूमि दुःख का प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है वह अवश्य जाता है, पर आये हुए का सदुपयोग न करना मानव की भूल है। रहता वही है जिसमें आने-जाने की बात नहीं। अतः जो आता-जाता है उसका सदुपयोग करना है और जो रहता है उसमें प्रियता। आये हुए सुख का सदुपयोग दुःखियों की सेवा में है और आये हुए दुःख का सदुपयोग अहम् और मम के नाश में है। जो मानव सुख आने पर सेवा-परायण नहीं होता, वह विवश होकर सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है और जो मानव दुःख आने पर अहम्, मम का अन्त नहीं करता वह बार-बार दुःख भोगता है और भयभीत रहता है। इस दृष्टि से सुख दुःख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःख का सदुपयोग विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन का यथेष्ट अध्ययन किया है।

समस्त विश्व में केवल सुख तथा दुःख का ही दर्शन होता है. परन्तु उनमें नित्यता नहीं है, अर्थात् दोनों ही स्वभाव से परिवर्तनशील हैं। सुख का प्रलोभन जब तक रहता है, तब तक दुःख अवश्य आता है। सुख के भोगी को न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट विदित ही है कि पराधीनता तथा जड़ता-जनित सुखासक्ति के रहते हुए दुःख का आना अनिवार्य है। जिसे दुःख का अन्त करना हो उसे पराधीनता-जनित सुख का अन्त करना होगा। सुख का अन्त दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आया हुआ सुख चला ही जाता है, पर उसका प्रलोभन सुख के भोगी में अङ्कित हो जाता है। उस प्रलोभन का नाश तभी होता है जब दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव हो जाय। दुःख के प्रभाव को न अपनाना और भयभीत रहना मानव की भारी भूल है। इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को करना अनिवार्य है। भूल को भूल जान लेने से ही भूल का नाश होता है। यह सभी को विदित है कि पराधीनता स्वभाव से मानव को प्रिय नहीं है। तो क्या पराधीनता बिना स्वीकार किये कामनापूर्ति-जनित सुख का भोग हो सकता है ? कदापि नहीं। अब विचार यह करना है कि पराधीनता तो प्रिय नहीं है तो फिर पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन क्या अर्थ रखता है ? पराधीनता-जनित वेदना असह्य होने पर ही पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश होता है।

स्वाधीनता की माँग और पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन प्रत्येक मानव अपने में पाता है। अपने आप न चाहने पर भी आया हुआ दुःख स्वाधीनता की प्राप्ति में साधन-रूप है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव दुःख के प्रभाव से प्रभावित

होकर सुख के प्रलोभन से रहित होता है। प्रलोभन का अन्त होने पर भय स्वतः मिट जाता है। अतः सुख के प्रलोभन ने ही दुःख के भय को जन्म दिया है। सुख की आशा से पीड़ित मानव का दुःख निर्जीव दुःख है और पराधीनता-जनित असह्य व्यथा सजीव दुःख है। निर्जीव दुःख यद्यपि प्राणी-मात्र में है, पर सजीव दुःख केवल मानव-जीवन में ही होता है। दुःख की वास्तविकता का अनुभव मानव-जीवन में ही सम्भव है। इस दृष्टि से दुःख मानव-जीवन का मुख्य अङ्ग है पर मानव को दुःख से भयभीत नहीं होना है और न सुख की आशा रख कर उसका आह्वान करना है अपितु दुःख की वास्तविकता को अपना कर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न होना है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव न होता तो सुख की दासता-जनित पराधीनता, जड़ता एवं अभाव का अभाव न होता। इस दृष्टि से दुःख के प्रादुर्भाव में मानव-मात्र के प्रति किसी की कितनी करुणा निहित है! पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का स्पष्ट निर्णय किया है। लक्ष्य के निर्णय तथा उसकी प्राप्ति में दुःख का बहुत बड़ा स्थान है। इस दृष्टि से दुःख सर्वोत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने में हेतु है। सर्वोत्कृष्ट जीवन का अधिकार मानव-मात्र को जन्मजात है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होना मानव का प्रमाद है जिसका अन्त दुःख के प्रभाव में ही निहित है। इस दृष्टि से भूल के अन्त करने में, सुख-लोलुपता के नाश में, स्वाधीनता की प्राप्ति में, भोग की वास्तविकता के परिचय में, निर्विकारता की अभिव्यक्ति में दुःख का मुख्य स्थान है।



८

शिक्षा और दीक्षा

शिक्षा मानव-जीवन में सौन्दर्य प्रदान करती है; कारण, कि शिक्षित व्यक्ति की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभी को स्वभाव से प्रिय है पर उसका दुरुपयोग मंगलकारी नहीं है। अत: शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान प्रचलित प्रथा में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना है। पर वास्तव में दीक्षा का अर्थ मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा का सदुपयोग दीक्षा से सम्भव है। सामर्थ्य में वह चेतना नहीं होती, जिससे उसका मानव दुरुपयोग न करे। अत: सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिलता है। दीक्षित मानव की प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की प्राप्ति में ही निहित है। शिक्षा, अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा जो शक्ति प्राप्त हुई है उसका दुरुपयोग न हो, इसके लिए शिक्षित मानव का दीक्षित होना अनिवार्य है।

शिक्षा का सम्पादन सामूहिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है अर्थात् शिक्षित होने के लिए समाज के विभिन्न अंगों का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी मानव दूसरों के सहयोग

के बिना शिक्षित नहीं हो सकता, इस दृष्टि से शिक्षा-रूपी सामर्थ्य सामूहिक सम्पत्ति है, व्यक्तिगत नहीं। सामूहिक सम्पत्ति का सदुपयोग सर्व-हितकारी सद्भावना से ही करना उचित है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव दीक्षित हो जाय। दीक्षित होने के लिये जीवन का अध्ययन अनिवार्य होगा। मानव-जीवन कामना और माँग का पुञ्ज है। कामना मानव को पराधीनता, जड़ता, एवं अभाव की ओर गतिशील करती है और माँग स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। माँग की पूर्ति एवं कामनाओं की निवृत्ति में ही मानव-जोवन की पूर्णता है। मानव-मात्र का लक्ष्य एक है। इस कारण दोक्षा भी एक है। दीक्षा के दो मुख्य अंग हैं—दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वतः होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति में अविचल आस्था रखना हो दोक्षा है। यह दीक्षा प्रत्येक वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब इज्म आदि के मानव के लिये समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना कोई भी मानव मानव नहीं हो सकता और मानव बिना हुए जीवन अपने लिये, जगत् के लिये और उसके लिये जो सर्व का आधार तथा प्रकाशक है, उपयोगी नहीं हो सकता।

शिक्षा से प्राप्त सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। पर विचार यह करना है कि दायित्व क्या है। दायित्व वह नहीं हो सकता जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता का अनुभव करे और वह भी दायित्व नहीं है कि जिसके पूरा करने में माँग की पूर्ति न हो। जिस पर जो दायित्व है, वह उससे अपरिचित नहीं है, उसकी विस्मृति भले ही हो गई हो। दायित्व का ज्ञान प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र में विद्यमान है। उसकी विस्मृति

किसी न किसी असावधानी से हो जाती है; पर माँग की पूर्ति में अविचल आस्था होने से माँग की उत्कट लालसा जाग्रत होती है जो दायित्व की स्मृति जगाने में और भूल के मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने पर क्या दायित्व है, इस पर मानव को स्वयं विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन-मात्र महत् पुरुषों से ही होता है और उसी का नाम दीक्षा है। शिक्षा सामर्थ्य है और दीक्षा प्रकाश। सामर्थ्य का उपयोग अन्धकार में करना अपने बिनाश का आह्वान करना है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का प्रभाव अपने पर होता है अर्थात् कर्त्ता पर होता है, करण पर नहीं। करण कर्त्ता के अधीन कार्य करते हैं। अतः शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिये। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नहीं है कि सबल उसका विनाश करे, अतः बल का दुरुपयोग न करने का व्रत, कर्त्तव्य-पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परि-स्थिति में बल का दुरुपयोग नहीं करना है उसमें स्वतः कर्त्तव्य की स्मृति उदित होगी, यह दीक्षा की महिमा है। कर्त्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः कर्त्ता में अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक विधान है। अतएव कर्त्तव्य पालन में असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो नहीं कर सकते, क्या वह भी किसी का कर्त्तव्य हो सकता है? अथवा जो नहीं करना चाहिए क्या वह भी किसी का कर्त्तव्य हो सकता है? कदापि नहीं। सामर्थ्य तथा विवेक विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्त्तव्य-परायणता के लिये अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है। यह दीक्षा कोई मानव निज विवेक के प्रकाश से अथवा किसी

कर्त्तव्य-निष्ठ मानव से अपनाये, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है; पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर दीक्षित बिना हुए शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते हैं। अशिक्षित मानव से उतनी क्षति हो ही नहीं सकती जितनी दीक्षा-रहित शिक्षित से होती है। शिक्षित मानव का समाज में बहुत बड़ा स्थान है; कारण, कि उसके सहयोग की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षित का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। कर्त्तव्यपरायणता पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में समर्थ है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव के द्वारा ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और फिर वह स्वतः योग विज्ञान में प्रवेश पाता है जो विकास का मूल है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और योग 'स्व' के लिए उपयोगी है। कर्त्तव्य की पूर्णता स्वतः मानव को योगवित् कर देती है जो अपने लिए उपयोगी है, अर्थात् योगवित् होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य-पालन में प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है जो सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि कर्त्तव्य का आरम्भ तथा अन्त होता है जिसका आरम्भ और अन्त है वह नित्य नहीं है; किन्तु कर्त्तव्य का परिणाम कर्त्ता को रागरहित करने में उपयोगी है। रागरहित भूमि में जब योग-रूपी वृक्ष उगता है, तब मानव अपने उस दायित्व को पूरा करने में समर्थ होता है जो उसे पराधीनता से रहित करने में समर्थ है अर्थात् रागरहित होने पर ही वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंगता प्राप्त होती है जो विचार-पथ की दीक्षा है। यह दीक्षा भी मानव जाने हुए

असत् के त्याग से प्राप्त कर सकता है, जो सभी विचारशील महत् पुरुषों से समर्थित भी है। कर्त्तव्य-परायणता सुन्दर समाज के निर्माण में और असंगता स्वाधीनता की प्राप्ति में समर्थ है; पर जिसकी अहैतुकी कृपा से कर्त्तव्य पालन के लिए मूल सामग्री तथा कर्त्तव्य की स्मृति के लिए विवेक रूपी प्रकाश मिला उसमें अविचल आस्था करना विश्वास-पथ की दीक्षा है। आस्था स्वतः श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में परिणत होती है। जिससे मानव उसमें आत्मीयता स्वीकार करता है जिसे जानता नहीं है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति प्रदान करती है जो प्राप्ति तथा अगाध-प्रियता की जननी है। विश्वास-पथ की दीक्षा विश्वासी को विश्वासपात्र से अभिन्न कर देती है। कर्त्तव्य-परायणता से सुन्दर समाज का निर्माण और असंगता से स्वाधीनता की प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम की जाग्रति होती है। कर्त्तव्य-परायणता परम शान्ति से, असंगता स्वाधीनता से एवं शरणागति अगाधप्रियता से मानव को अभिन्न करती है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। किस मानव को आरम्भ में कैसी दीक्षा लेनी है, यह उसकी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य पर निर्भर है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र की माँग एक है और उसी माँग को उसने शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के स्वरूप में वरण किया है। शान्ति सामर्थ्य की, स्वाधीनता चिन्मयता की और प्रेम अनन्त रस का स्रोत है। सामर्थ्य चिन्मयता एवं रस से परिपूर्ण जीवन की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग स्वतः पूरी होती है, यह विधान है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा के बिना माँग अर्थात् लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए दायित्व क्या है इसका विकल्प

रहित निर्णय सम्भव नहीं है, जिसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। दीक्षा का बाह्य रूप भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो, किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप तो कर्त्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति में ही निहित है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य की पूर्णता में असंगता और असंगता की परावधि में शरणागति स्वत: आ जाती है। कर्त्तव्य-परायणता के बिना स्वार्थ-भाव का, असंगता के बिना जड़ता का और शरणागति के बिना सीमित अहम्-भाव का सर्वांश में नाश नहीं होता। स्वार्थ-भाव ने ही मानव को सेवा से और जड़ता ने ही मानव को चिन्मय जीवन से एवं सीमित अहम्-भाव ने ही प्रेम से विमुख किया है जो विनाश का मूल है। स्वार्थभाव, जड़ता एवं सीमित अहम्-भाव का नाश, दीक्षा में ही निहित है।

व्यक्तित्व की सुन्दरता में शिक्षित होने के लिए मानव को शिक्षकों की अपेक्षा होती है; पर व्यक्तित्व के मोह के नाश में दीक्षित होने के लिए मानव को अपनी ओर देखना होता है। अपनी ओर देखने पर ही अपने दायित्व और माँग का बोध होता है। दीक्षा की पाठशाला एकान्त और पाठ मौन है। शिक्षा अनन्त से प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश है। सौन्दर्य का सद्व्यय प्रकाश से ही सम्भव है। शिक्षा मानव को उपयोगी बनाती है और दीक्षा सभी के ऋण से मुक्त करती है। ऋण से मुक्त हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो वास्तविक जीवन है।

१

विश्व-शान्ति

यह सभी को विदित है कि बल का दुरुपयोग ही एक-मात्र अशान्ति का मूल है। अब विचार यह करना है कि मानव-समाज बल का दुरुपयोग क्यों करता है ? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि जब तक परस्पर प्रीति-भेद नहीं होता तब तक बल के दुरुपयोग का संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकमात्र प्रीति-भेद ही बल के दुरुपयोग में हेतु है, जो अशान्ति का मूल है। प्रीति आत्मीयता से जाग्रत होती है। किसी अन्य प्रकार से प्रीति का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। जब तक मानव सर्वात्मभाव स्वीकार नहीं करता, तब तक प्रीति की एकता सम्भव नहीं है। यद्यपि समस्त विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक एक है; परन्तु इस मौलिकता को भूल जाने से बाह्य-अनेकता के कारण मानव भिन्नता स्वीकार कर लेता है। कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है, यह रचना की शोभा है। प्रत्येक वृक्ष का बीज एक होने पर भी वृक्ष में अनेकता का दर्शन होता है। पर बीज की एकता और वृक्ष कीं अनेकता को मानव बुद्धि-दृष्टि से देख सकता है। इन्द्रिय-दृष्टि से बीज में वृक्ष का दर्शन नहीं होता, परन्तु बुद्धि-दृष्टि से तो बीज के स्थूल भाग की कौन कहे, अव्यक्त भाग में

भी समस्त वृक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि से असंग होकर बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है, तब व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी समस्त विश्व से एकता स्वीकार करता है। बाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है, पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। पर मानव जब इस वास्तविकता को भूल जाता है, तब कर्म की भिन्नता के साथ-साथ प्रीति की भिन्नता मान बैठता है, जो संघर्ष का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म की भिन्नता भी पारस्परिक एकता को ही सिद्ध करती है। यदि भिन्नता न हो तो एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक उपयोगिता ही सिद्ध न होती। नेत्र से जब देखते हैं तब पैर से चलते हैं। दोनों की क्रिया में भिन्नता है पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में एक-दूसरे की उपयोगिता के लिए ही भिन्नता है। उपयोगिता होने के कारण भिन्नता में भी एकता ही सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब दूसरों की उपयोगिता में अभिरुचि नहीं होती, तब भिन्नता भेद को जन्म देती है जो संघर्ष का मूल है। व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता दूसरों के प्रति है और दूसरों को जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। पारस्परिक आदान-प्रदान भिन्नता से ही सम्भव है। पर इस रहस्य को भूल जाने से भिन्नता एकता में परिणत नहीं होती और उसके न होने से प्रीति-भेद उत्पन्न होता है जो संघर्ष का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरों की उपयोगिता में प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता व्यय करें, तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और फिर परस्पर स्नेह की एकता बड़ी ही सुगमता

पूर्वक सुरक्षित रह सकती है जो विकास का मूल है। यह सभी को विदित है कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह उसका व्यक्तिगत नहीं है, अर्थात् समष्टि शक्तियों से निर्मित है। इसी कारण मिला हुआ अपने लिए उपयोगी नहीं होता, अपितु दूसरों के लिए होता है। जिस प्रकार चिकित्सक रोगियों के लिए और रोगियों के पास जो कुछ है वह चिकित्सक के लिए उपयोगी होता है, उसी प्रकार परस्पर जितने सम्बन्ध हैं उन सभी में यह स्पष्ट ही है कि परस्पर आदान-प्रदान में ही एक दूसरे की पूर्ति निहित है। इस वैधानिक सत्य का अनुसरण करने पर ही समस्त संघर्षों का अन्त हो सकता है। भिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं उनके मूल में अकर्त्तव्य ही होता है। भिन्नता वास्तव में संघर्ष का कारण नहीं है और एकता में संघर्ष है ही नहीं। बाह्य-भिन्नता और आन्तरिक-एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नहीं है। विश्व एकता और भिन्नता का बड़ा ही अनुपम चित्र है; पर इस कला को कोई विरले मनीषी ही देख पाते हैं। विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकारों का साहित्य दूसरों की पूर्ति में ही जीवित है, पर जब इस वास्तविकता को भूल जाते हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिए विज्ञान, कला, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते हैं, तब भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं कर पाते। यद्यपि व्यक्तिगत सुख का सम्पादन किसी अन्य के द्वारा ही सम्भव होता है परन्तु सुखासक्ति के कारण हम दूसरों की हित-कामना में रत नहीं रहते, अपितु अपने मान और भोग पर ही दृष्टि रखते हैं। उसी का परिणाम है कि विश्व में अशान्ति का जन्म होता है। विश्व-शान्ति के लिए मानव-समाज को दूसरों की हित-कामना को

अपनाना होगा। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में ही अपना हित निहित है। इस मौलिकता को भूल जाने के कारण पर-हित में रति नहीं रहती, जिसके न रहने से ही भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं होता। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत सुखासक्ति ने ही आन्तरिक एकता का साक्षात्कार नहीं होने दिया; कारण, कि सुखासक्ति मानव को मिले हुए के अभिमान में आबद्ध करतो है और फिर मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तद्रूप हो जाता है जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। अतः सुखासक्ति मानव को आन्तरिक एकता का भी अनुभव नहीं होने देती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन ही अशान्ति का मूल है।

पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही सुखासक्ति का सर्वांश में नाश होता है और फिर अपने आप पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से पर-पोड़ा को अपना लेना ही भिन्नता में एकता का बोध कराने में समर्थ है। दूसरों के सुख को सहन न करने पर भी पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है, जो एकता में भिन्नता को पोषित करता है। दु:खियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने पर ही भिन्नता में एकता का दर्शन होता है। करुणा व्यक्तिगत सुखासक्ति के नाश में समर्थ है और प्रसन्नता निष्कामता को सुरक्षित रखती है; कारण, कि खिन्नता की भूमि में काम की उत्पत्ति होती है। सुखासक्ति का नाश तथा निष्कामता सुरक्षित रहने पर स्वाधीनता एवं शान्ति की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर मिले हुए का सदुपयोग स्वतः

होने लगता है, जो पारस्परिक एकता में हेतु है। असमथता के कारण ही व्यक्ति को जो करना चाहिये, उसे वह नहीं कर पाता और जो नहीं करना चाहिये उसे कर बैठता है। इस कारण असमर्थता का अन्त करना अनिवार्य है। जो कुछ नहीं कर सकता, वह असमर्थ नहीं है। कुछ न करने की स्थिति तो सब कुछ करने पर ही आती है। जो नहीं करना चाहिये उसे कर बैठना ही असमर्थता है। शान्ति के सुरक्षित रहने पर वह सामर्थ्य आतो है जिससे अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य का अभिमान नहीं रहता, अर्थात् दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता, जिससे परिच्छिन्नता मिट जाती है। परिच्छिन्नता के मिटते हो अनेकता में एकता का स्वत: बोध होता है। इस दृष्टि से गुणों के अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति में ही समस्त-संघर्ष पोषित होते हैं, जिसका मूल सुखासक्ति तथा खिन्नता है। सुखासक्ति पराधीनता में और खिन्नता क्षोभ में आबद्ध करती है। पराधीन मानव ही दूसरों से सुख की आशा करते हैं और क्षोभित मानव अपने दु:ख का कारण दूसरों को मानते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। दूसरों के सुख में सहयोग देने से ही पराधीनता का नाश होता है और अपने दु:ख का कारण किसी और को न मानने से ही क्षोभ नाश होता है। पराधीनता तथा क्षोभ का नाश होने पर ही शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने पर स्वत: समता प्राप्त होती है। समता के साम्राज्य में अशान्ति नहीं है। शान्ति की भूमि में ही कर्त्तव्य-पालन की सामर्थ्य तथा निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है। कर्त्तव्य-परायणता अनेकता में एकता का स्पष्ट बोध कराती है और सन्देह-रहित होने पर ही निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है।

निश्चिन्तता व्यर्थ चिन्तन से रहित कर वर्तमान को सरस बनाती है। वर्तमान की सरसता निर्विकारता को सुरक्षित रखती है, जो सर्वदा सभी के लिए हितकर है; कारण, कि विकारों की उत्पत्ति से ही अहित-कर चेष्टाएँ होती हैं, जो सर्वथा त्याज्य हैं। निर्भयता मानव को ऐश्वर्य प्रदान करती है, अर्थात् उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरों को पराजित करता है। निर्भयता आ जाने पर मानव सभी को अभय दान देता है। भयभीत मानव ही दूसरों को भय देता है। इतना ही नहीं, भयभीत होने पर ही दूसरों के विनाश की भावना उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से निर्भयता में ही अहिंसा निहित है। हिंसा का अन्त होने पर स्वतः शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से मानव-समाज जब तक निश्चिन्त तथा निर्भय नहीं हो जाता, तब तक शान्ति की स्थापना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भयभीत होने से ही मानव ने विनाश-कारी वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं। पर बल का दुरुपयोग करने पर कभी भी बल सुरक्षित नहीं रहता। इस कारण निर्भयता के बिना कभी भी बल का सदुपयोग सम्भव नहीं है। अतः निर्भय होकर अभयदान देने पर ही मानव विश्व-शान्ति को सुरक्षित रख सकता है।

यह सभी को विदित है कि निर्बल सबल से भयभीत होते हैं। अतएव सबल निर्बलों को अभय दान प्रदान करें। ऐसा करने से सबल बल के अभिमान से रहित होगा और सबल तथा निर्बल का भेद मिट जायगा, जिसके मिटते ही दो व्यक्तियों में, वर्गों में, देशों में, मज़हबों, मत-सम्प्रदायों तथा दलों में स्वतः एकता होगी जो शान्ति में हेतु है। एकता का बोध न रहने पर

ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं, जो विनाश के मूल हैं। यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि जब वह सृष्टि की ओर देखता है तो उसे सारा विश्व एक इकाई के रूप में ही प्रतीत होता है। आज तक किसी दार्शनिक ने यह नहीं कहा कि समस्त सृष्टि एक नहीं है। अनेकता उसी एक की शोभा है, और कुछ नहीं। अनेक होने पर भी सभी का आधार और प्रकाशक एक ही है। फिर भी मानव असावधानी के कारण एक इकाई के अन्तर्गत अनेकों भेद मान लेता है। स्वरूप से सृष्टि में भेद नहीं है। केवल बाह्य भिन्नता के आधार पर काल्पनिक भेद है। वास्तविकता की खोज करने पर काल्पनिक भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही वास्तविकता का अनुभव होता है और फिर स्वतः पारस्परिक एकता हो जाती है जिसके होते ही प्रीति का उदय होता है जो अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति के नाश में समर्थ है। प्रीति के अभाव में ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। साधन और जीवन की भिन्नता के मूल में भी प्रीति का अभाव ही है। समस्त आसक्तियाँ उसी समय तक ही जीवित रहती हैं जिस समय तक प्रीति का प्रादुर्भाव नहीं होता।

ऐसी कोई संकीर्णता नहीं है जिसके मूल में किसी-न-किसी प्रकार की आसक्ति न हो; कारण, कि आसक्ति मानव को असीम से विमुख कर सीमा में, चेतना से विमुख कर जड़ता में और स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आबद्ध करती है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग कामना-पूर्ति में करने से ही आसक्ति उत्पन्न होती है। कामनाओं का उद्गम एक-मात्र निज विवेक का अनादर ही है। जब मानव जाने हुए से प्रभावित नहीं होता तब किये हुए में आबद्ध होता है, जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है और फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की

परिच्छिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो भेद को पोषित करती हैं। परिच्छिन्नताओं में आबद्ध मानव ही अशान्ति को जन्म देता है। व्यक्तिगत भिन्नता यद्यपि सृष्टि की शोभा है, परन्तु उसके आधार पर मानव अनेकों भेद स्वीकार कर लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्रीति की एकता सुरक्षित नहीं रहती और फिर परस्पर वह कर बैठते हैं जो नहीं करना चाहिये। न करने वाली बातों को करने पर ही मानव-समाज कर्त्तव्य से विमुख होता है। यदि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में, परिवार, समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापित करनी है तो प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मज़हब, वाद के लोगों को सर्वांश में दृढ़तापूर्वक उन सभी कृतियों का त्याग करना होगा जो नहीं करना चाहिए। जब मानव किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर वह कर बैठता है जिसे वह स्वयं जानता है कि नहीं करना चाहिये, तब न तो कर्त्तव्य की स्मृति ही रहती है और न मानव कर्त्तव्य-निष्ठ ही हो पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपने कर्त्तव्य को भूलता है; उसे ही दूसरों के कर्त्तव्य की चर्चा करने का रोग उत्पन्न हो जाता है, जो पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहने देता। अशान्ति के मूल में यही प्रतीत होता है कि दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने से अपने-अपने कर्त्तव्य की विस्मृति होती है और परिणाम में अशान्ति तथा संघर्ष ही पोषित होते हैं। यद्यपि दूसरों के कर्त्तव्य का ज्ञान भले ही ठीक हो, परन्तु जब तक कर्त्ता स्वयं अपने कर्त्तव्य से परिचित नहीं होता, तब तक वह उसका विधिवत् पालन नहीं कर पाता। कर्त्तव्य-परायणता दूसरों के हृदय में कर्त्तव्य की प्रेरणा देती है, और फिर सभी स्वतः कर्त्तव्य-पालन में तत्पर होते हैं। अपने-अपने कर्त्तव्य का

पालन करने पर परस्पर में आन्तरिक एकता स्वतः हो जाती है। बाह्य भिन्नता आन्तरिक एकता को भंग नहीं कर पाती, अपितु एकता से जाग्रत प्रियता बाह्य भिन्नता में भी एकता का ही पाठ पढ़ाती है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है, परन्तु अपने से अपरिचित रहने पर वह प्रियता आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी दशा में मानव अपनी ही मान्यता, धारणा, चिन्तन, रहन-सहन, आदि को दूसरों में देखना चाहता है। जब उसे नहीं देख पाता, तब अपने में और दूसरों में भेद मान लेता है और फिर विनाशकारी प्रयोगों द्वारा बल-पूर्वक दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है और यह भूल जाता है कि मानव को स्वाधीनता स्वभाव से प्रिय है। किसी की स्वाधीनता का अपहरण करना ही अपने को पराधीन करने की तैयारी है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की है। प्रीति की भिन्नता के समान और कोई अकर्त्तव्य की उत्पत्ति का और दूसरा कोई कारण नहीं है। समस्त दोषों की उत्पत्ति तभी होती है जब परस्पर प्रीति की एकता नहीं रहती। दोषों का समूल नाश तभी होता है जब सभी के प्रति प्रियता हो। प्रियता स्वतः बुराई को उत्पन्न ही नहीं होने देती तो फिर किसी बुराई के करने का प्रश्न ही नहीं रहता। प्रियता पूर्वक सुधार में भी सुरक्षा का भाव सतत् रहता है। विनाश की भावना उत्पन्न ही नहीं होती है। इस दृष्टि से प्रियता के साम्राज्य में ही शान्ति तथा स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। अविचल शान्ति अगाध-प्रियता में ही निहित है, और अगाधप्रियता सर्वात्मभाव से ही

जाग्रत होती है। इस कारण समस्त विश्व एक जीवन है, इस वास्तविकता को अपना लेने पर ही विश्व-शान्ति सम्भव है।

विश्व-शान्ति सुरक्षित रखने के लिए मानव-समाज ने दो मान्यताएँ स्वीकार कीं—राष्ट्रीयता तथा मजहब, अर्थात् न्याय और प्रेम के द्वारा ही शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। परन्तु जब तक मानव अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम को नहीं अपनायेगा तब तक शान्ति का सुरक्षित रखना किसी भी प्रकार सम्भव न होगा। किसी भी परिवार में अशान्ति कब होती है ? जब परिवार के सदस्य अपने-अपने सुख के लिए दूसरों के प्रति न्याय करते हैं और यह भूल जाते हैं कि न्याय तो अपने प्रति करना था। दूसरों के साथ तो प्रेम ही किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमानुसार न्याय से निर्दोषता और प्रेम से अभिन्नता सिद्ध होती है। जब मानव अपने प्रति न्याय नहीं करता, तब उसमें किसी-न-किसी अंश में दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं। और जब दूसरों से प्रेम नहीं करता तब किसी-न-किसी अंश में भेद उत्पन्न हो ही जाता है। दोषों तथा भेद की उत्पत्ति होने पर पारिवारिक शान्ति भग हो जाती है। समस्त विश्व भी एक विराट परिवार है और कुछ नहीं। यदि दूसरों के प्रति प्रेम तथा अपने प्रति न्याय नहीं किया, तो विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। प्रेम में त्याग और न्याय में तप स्वतः सिद्ध है। त्याग चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं एकता से अभिन्न करता है और तप असमर्थता का अन्त करता है, अर्थात् तप से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम वही कर सकता है जिसे तप और त्याग अभीष्ट हो। अब विचार यह करना है कि तप का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिये बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना तप है और अहम् और मम का सर्वांश में नाश करना त्याग है। निर्दोष-जीवन की माँग सभी को सदैव रहती है और प्रेम स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, देश, राष्ट्र तथा समाज को अपने-अपने प्रति न्याय और अन्य के प्रति प्रेम का बर्ताव करना अनिवार्य है। यही महामन्त्र है व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा विश्वगत शान्ति को सुरक्षित रखने का; पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब अपने में अपनी जानी हुई भूल न रहे और की हुई भूल को पुनः न दुहराया जाय, अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर बुराई से न देकर यथाशक्ति भलाई से दिया जाय तब अनेक भेद होने पर भी एकता सुरक्षित रहेगी जो शान्ति की जननी है।

उपसंहार

मानव-दर्शन मानव-मात्र का अपना दर्शन है। प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी सबसे अधिक प्रियता होती है। इस कारण जब तक मानव अपने जाने हुए का स्वयं आदर नहीं करता तब तक वह सन्देह रहित नहीं होता। निस्सन्देहता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि मानव-जीवन की सार्थकता के लिये सन्देह-रहित होना अनिवार्य है। देखे हुए में तथा सुने हुए में विकल्प भी हो सकता है, परन्तु जाने हुए में विकल्प नहीं होता। अतएव अपने जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता निहित है।

अब विचार यह करना है कि अपना देखा हुआ क्या है? सुना हुआ क्या है? और जाना हुआ क्या है? देखा हुआ वही है जो इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि का विषय है और सुना हुआ वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है और जाना हुआ देखे हुए तथा सुने हुए से विलक्षण है; कारण, कि जानना किसी की अपेक्षा नहीं रखता अपितु ज्ञाता स्वयं ही जानता है। द्रष्टा में और ज्ञाता में एक बड़ा भेद यह है कि द्रष्टा दृष्टि के आश्रित दृश्य का अनुभव करता है, परन्तु ज्ञाता को किसी दृष्टि की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वयं ही जानता है। परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब द्रष्टा देखने के राग से रहित जिज्ञासु होकर ज्ञाता से अभिन्न होता है। जो देखने में आसक्त है, उसी में दृश्य के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है; कारण कि दृश्य स्वभाव से ही सतत् परिवर्तनशील है, किन्तु मानव की माँग नित्य-जीवन की है। दृश्य के आश्रय में जब माँग की पूर्ति नहीं होती तब

बेचारा मानव विवश होकर भोक्ता-भाव को त्याग, जिज्ञासु होता है। जिज्ञासा भोग के राग को खाकर स्वयं पूरी होती है और फिर द्रष्टा ज्ञाता से अभिन्न हो जाता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि देखा हुआ बोध नहीं है। देखना एक प्रकार का भोग है; कारण, कि देखने से दृश्य का प्रभाव अंकित होता है जिसके होने से मानव देहाभिमान में आबद्ध होता है, जो पराधीनता का मूल है। पराधीनता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस दृष्टि से देहाभिमान का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव से ही सम्भव है। इस वास्तविक माँग की पूर्ति के लिये मानव-मात्र को अपने दर्शन का अनुसरण करना अनिवार्य है।

जो देखा हुआ है वह सुना हुआ नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुना हुआ केवल श्रोत का विषय है। सर्वेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की द्रष्टा हैं। अतः सुने हुए के अर्थ में केवल उसे लेना है जो इन्द्रिय, बुद्धि आदि से अतीत है। इस दृष्टि से देखे हुए और सुने हुए में भेद है। देखे हुए के प्रति जिज्ञासा होती है, जिसे कभी नहीं देखा उसके प्रति आस्था हो सकती है, जिज्ञासा नहीं। जिसके प्रति जिज्ञासा होती है उस पर विचार किया जा सकता है और जिसे केवल सुना है उससे आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार की जाती है जो प्रियता की जननी है। देखे हुए पर सन्देह होने से जब तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है, तब स्वतः विचार का उदय होता है, जिसके होते ही अविचार का नाश तथा वास्तविकता से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा आस्था दोनों ही मानव-जीवन के स्वतन्त्र पथ हैं। वास्तविकता से अभिन्न होने पर उसमें आस्था और प्रियता से दूरी तथा भेद मिट जाने पर वास्तविकता का बोध स्वतः होता है। जिज्ञासा और आस्था दोनों स्वतन्त्र पथ होने

पर भी परिणाम में समान अर्थ रखते हैं। अतः मानव अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार आस्था अथवा जिज्ञासा, किसी भी पथ को अपनाये, लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है। जिज्ञासा तथा आस्था अपना लेने पर, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग दोनों ही पथों में समान अर्थ रखता है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विश्वासी तथा जिज्ञासु दोनों ही के लिये अनिवार्य है।

प्रत्येक मानव को विवेक रूपी प्रकाश तथा इन्द्रिय एवं बुद्धि-दृष्टि प्राप्त हैं। दोनों ही दृष्टियाँ एक ही प्रकाश से कार्य करती हैं परन्तु दोनों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। उपयोगिता की दृष्टि से दोनों ही दृष्टियाँ आवश्यक हैं। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव राग की उत्पत्ति में और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव राग-रहित करने में हेतु है। यह क्रम कब से आरम्भ हुआ है, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका निर्णय सम्भव नहीं है। किन्तु इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव विकास का मूल है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मानव को पराधीनता में आबद्ध रखता है जो उसे अभीष्ट नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-दृष्टि में कोई दोष है। इन्द्रियाँ तो बेचारी करण हैं कर्त्ता नहीं। इन्द्रिय-दृष्टि कर्त्तव्य-कर्म के लिये उपयोगी है। मंगलमय विधान से मानव को बुद्धि-दृष्टि केवल इसीलिये मिली है कि वह इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए भी उसके प्रभाव से रहित हो जाय। मिले हुए का दुरुपयोग भारी भूल है और सदुपयोग सजगता है। भूल में ह्रास और सजगता में विकास निहित है।

दृश्य एक, द्रष्टा एक और दृष्टि दो हैं। इस कारण द्रष्टा को एक ही दृश्य के सम्बन्ध में दोनों दृष्टियों का उपयोग करना है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में

साधनरूप हो सकता है। परन्तु कब ? जब प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए की जाय। प्रवृत्ति में जोवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रवृत्ति की वास्तविकता से अपरचित रहना है, जो अवनति का मूल हैं। नवीन राग की उत्पत्ति न हो, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बुद्धि-दृष्टि मिली है। इन्द्रिय-दृष्टि के द्वारा आसक्ति का पोषण करना और बुद्धि-दृष्टि से विवादी होना दृष्टियों का दुरुपयोग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जब बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग करने पर मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होता है तब प्रत्येक कार्य के अन्त में इन्द्रिय-दृष्टि स्वतः मन में विलीन होती है और मन, निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम होती है जो विकास का मूल है। पर बुद्धि के सम होने-मात्र में ही मानव की माँग पूरो नहीं हो जाती; कारण कि, निर्वि-कल्प स्थिति निर्विकल्प बोध नहीं है। निर्विकल्प बोध के बिना निःसन्देहता सुरक्षित नहीं रहती। इस कारण बुद्धि के सम होने-मात्र में ही सन्तुष्ट होना भूल ही है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि के सम होने का उपाय न किया जाय। बुद्धि के सदुप-योग से ही बुद्धि सम होती है। मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व मानव-मात्र पर है।

असफलता का एक-मात्र कारण मिले हुए का दुरुपयोग, जाने हुए का अनादर तथा सुने हुए में अविचल आस्था न करना है। मिले हुए का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति तभी मानव में होती है जब वह जाने हुए का आदर तथा सुने हुए में आस्था नहीं करता। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता केवल मानव ही की भूल से है। अब यदि कोई यह कहे कि मानव को मिले हुए के दुरुपयोग, जाने हुए के अनादर तथा सुने हुए में अनास्था करने की स्वाधीनता क्यों मिली है ?

यह कैसी विडम्बना है ? जिस विधान से मानव को स्वाधीनता मिली है उसका मानव को आदर करना चाहिए अथवा अनादर ? गम्भीरता से विचार करें, यदि स्वाधीनता न दी जाती तो क्या मानव की कोई महिमा होती ? मानव की महिमा उसे अभीष्ट है, जिसने उसका निर्माण किया है। क्या अपने परम-सुहृद के इस विधान का अनादर करना चाहिए ? क्या मानव पशु-पक्षियों की भाँति प्राकृतिक पराधीनता में आबद्ध होकर अपनी माँग की पूर्ति में समर्थ होता ? कदापि नहीं। मिली हुई स्वाधीनता के लिए उसे अपने रचयिता की अहैतुकी कृपा का अनुभव करना चाहिये कि उस पर आक्षेप ? न जाने उन्हें मानव इतना प्रिय क्यों है ! उनकी महिमा वे ही जाने, पर स्वाधीनता का सदुपयोग न करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। इस कारण मानव के लिए अपने दर्शन का आदर, अनुसरण एवं उसमें आस्था करना अनिवार्य है।

मानव-दर्शन मानव-मात्र के लिए सर्वदा हितकर है। उसका अनादर करना भारी भूल है। मानव-जीवन में विस्मृति ही एक-मात्र अनर्थ का मूल है जिसका अन्त करना वर्तमान में ही आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव सब ओर से विमुख होकर अपनी ओर देखे। अपनी ओर देखने का अर्थ है कि प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के अन्त में जब तक दूसरा कार्य आरम्भ न हो वह श्रम-रहित, अर्थात् अप्रयत्न हो जाय। अप्रयत्न होते ही स्वत: भूत की भूल का परिचय होगा। पर उसे देख भयभीत नहीं होना है अपितु की हुई भूल को न दोहराने का अविचल निर्णय करना है और की हुई भूल की याद अपने आप आने पर उससे असहयोग कर, वर्तमान निर्दोषता में आस्था कर, अचिन्त्य हो जाना है। भूतकाल की की हुई भलाई की स्मृति भी उत्पन्न होगी, पर उसके अभिमान तथा की हुई भलाई की फलासक्ति से

असंग रहना है। जब मानव बुराई दुहराता नहीं और भलाई का फल नहीं चाहता, तब गुण-दोष-रहित वास्तविक नित्य-जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपनी ओर देखना अनिवार्य है। मानव-जीवन में पर-सेवा तथा प्रिय-चिन्तन का स्थान है, किन्तु पर-चर्चा का कोई स्थान नहीं है; कारण, कि जिसकी सेवा करनी है उसकी चर्चा, अर्थात् वह क्या करता है, इसका चिन्तन मानव को अपने कर्त्तव्य और प्रिय-चिन्तन से वञ्चित कर देता है जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्त्तव्य की विस्मृति और अकर्त्तव्य की उत्पत्ति दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने से ही होती है। अब यदि कोई यह कहे कि दूसरों का सुधार कैसे होगा? तो उस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसका सुधार अभीष्ट है उसकी सेवा करनी है, उस पर शासन नहीं करना है। शासन करने से शासित प्राणी का सुधार नहीं होता, अपितु बुराई दब जाती है, मिटती नहीं है। बुराई को बुराई जान लेने पर तथा बुराई-जनित सुख-लोलुपता के न रहने पर ही बुराई का नाश होता है। अपनी की हुई बुराई को जानने का अपने पर ही दायित्व है और बुराई-जनित परिणाम पर भी अपने को ही विचार करना है और बुराई-रहित जीवन की महिमा में आस्था भी अपने ही को करनी है। जो कार्य अपने द्वारा होगा, उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। जिसे नहीं कर सकते, उसे करने का प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा अपने कर्त्तव्य से विमुख होना है और कुछ नहीं। इस कारण 'पर' की सेवा करनी है, उसका शासक नहीं होना है।

अब यदि कोई यह कहे कि शासन करने की अभिरुचि तो मानव में स्वभाव से है, तो कहना होगा कि उस रुचि की पूर्ति अपने पर अपना शासन करने से हो सकती है। शासन का

वास्तविक अर्थ है भूल-जनित वेदना से व्यथित होने पर उसे न दुहराने का दृढ़ सङ्कल्प करना और भूल-जनित सुख-लोलुपता से रहित होना। उसी शासन से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। किन्तु इस प्रकार का शासन अपने ही द्वारा अपने पर हो सकता है, किसी अन्य पर नहीं। दूसरों की भूल का वास्तविक परिचय सम्भव नहीं है और कितनी व्यथा होने पर सुख-लोलुपता मिट सकेगी, इसका यथेष्ठ ज्ञान उसी को हो सकता है जिसने भूल-जनित सुख का भोग किया है। अपराध से अधिक दण्ड मिलने पर क्षोभ उत्पन्न होता है जो दण्ड मिलने पर कर्त्तव्य की विस्मृति में हेतु है और कम दण्ड मिलने पर प्रलोभन उत्पन्न होता है जो अकर्त्तव्य के पोषण में समर्थ है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि किसी अन्य पर किसी अन्य का शासन सही अर्थ में सम्भव नहीं है। शासन का अर्थ है न्याय। न्याय अपने प्रति अपने द्वारा ही हो सकता है। दूसरों के प्रति तो क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार ही किया जा सकता है। न्याय निर्दोषता से और क्षमा तथा प्रेम निर्वैरता से अभिन्न करता है। निर्दोषता तथा निर्वैरता आ जाने पर व्यक्ति और समाज में, दो देशों में, दो वर्गों में, दो दलों और मजहबों आदि में एकता होती है, जो विकास का मूल है। अतः अपने-अपने प्रति न्याय करने की प्रणाली से ही मानव स्वाधीन हो सकता है, अर्थात् शासक और शासित का भेद जीवित नहीं रहता अर्थात् ऐसे सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है जिसे किसी प्रणाली के राष्ट्र की आवश्यकता नहीं रहती। राष्ट्र की आवश्यकता तभी होती है जब मानव-समाज मानवता से रहित होता है। मानव प्राकृतिक नियमानुसार सभी के लिए उपयोगी हो सकता है। जो सभी के लिए उपयोगी है, उसे भी कोई अपने से भिन्न अपने पर शासक चाहिये ! इससे बढ़कर मानव-जीवन का और कोई

अपमान नहीं है। सोई हुई मानवता को जगाने तथा मानव-समाज को अपमान से रहित करने के लिए ही मानव-दर्शन अपेक्षित है। अतः प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए का आदर, सुने हुए में आस्था और मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

जिसकी प्रतीति है उसका अर्थ 'मैं' नहीं है। अतः शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा उनके द्वारा जो कुछ देखने, सुनने, समझने में आता है, वह दृश्य है। उसका अर्थ 'मैं' नहीं हो सकता और जो इन्द्रिय-गोचर नहीं है, अर्थात् जो समझा-बूझा तथा देखा हुआ नहीं है अपितु केवल सुना है उसका अर्थ भी 'मैं' नहीं हो सकता। श्रवणेन्द्रिय द्वारा जो कुछ सुना जाता है वह उसका विषय है, किन्तु भक्तों के द्वारा जिस प्रभु की चर्चा सुनी है वह श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा तो उसकी महिमा सुनी है। जिसको महिमा सुनी है उसको जानना नहीं है केवल उससे आस्था-पूर्वक आत्मीयता करनी है।

किसी में आस्था-पूर्वक आत्मीयता करने के लिये शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं होती, अपितु अपने ही द्वारा आस्था तथा आत्मीयता की जाती है। इन्द्रिय-गोचर जो कुछ है उसके प्रति जिज्ञासा होती है, प्रवृत्ति होती है, ममता और कामना हो सकती है पर उसमें आस्था तथा आत्मीयता नहीं हो सकती; कारण, कि आस्था तथा आत्मीयता उसी में हो सकती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है जो उत्पत्ति-विनाश, देश-काल आदि की दूरी से रहित है, अर्थात् जो अविनाशी है। अविनाशी को किसी ने इन्द्रिय-गोचर नहीं किया। अतः सुना हुआ वही है जो इन्द्रिय-जन्य नहीं है। उसकी महिमा इन्द्रिय-गोचर है। महिमा का श्रवण आस्था कराने में सहयोगी

है, पर आस्था स्वयं को ही करनी है। इस दृष्टि से प्रभु की आस्था, जगत् की जिज्ञासा और पराधीनता, जड़ता आदि की व्यथा जिसमें है, वही 'मैं' है। जिज्ञासा की जाग्रति ममता तथा कामना से रहित कर मानव को पराधीनता-रहित कर देती है। पराधीनता के अत्यन्त अभाव में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। पराधीनता-जनित वेदना से पीड़ित को देख 'कोई' स्वयं विचार के रूप में अभिव्यक्त हो पराधीनता का अन्त कर स्वाधीनता से अभिन्न कर देता है, यह उसकी महिमा है जिसे जानते नहीं है।

जिसमें देखे, सुने, समझे की ममता और बिना जाने की आस्था है वही 'मैं' है। किसी प्रतीति तथा स्वीकृति का अर्थ 'मैं' नहीं हो सकता। देखे हुए की ममता तथा कामना का त्याग करने पर देखे हुए से असंगता स्वतः होती है और जिसकी आस्था स्वीकार की है उसके प्रति आत्मीयता-पूर्वक प्रियता स्वतः जाग्रत होती है। असंगता तथा आत्मीयता जिसका स्वधर्म है, वही 'मैं' है। असंगता स्वाधीनता से और आत्मीयता प्रियता से अभिन्न करती है। अतः स्वाधीनता और प्रियता जिसकी माँग है वही 'मैं' है। माँग में सत्ता उसी की होती है जिसकी माँग है। इस दृष्टि से जो सभी का प्रेमास्पद है, जिसमें पराधीनता, जड़ता, अभाव की गंध भी नहीं है, 'मैं' उसी की अगाधप्रियता है।

प्रियता स्वभाव से ही प्रीतम के लिए रस रूप होती है, इस दृष्टि से प्रियता की माँग सदैव रहती है। पर प्रियता में कोई माँग नहीं रहती। उस प्रियता से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

देहाभिमान रहते हुए जो चाहते हुए भी चला जाता है, वह सुख और न चाहने पर भी आ जाता है, वह दुःख है। बेचारे देहाभिमानी को वह अच्छा लगता है जो उसके न चाहने पर भी उससे अलग हो जाता है और उससे भयभीत होता है,

जो उसके न चाहने पर भी आ जाता है। सुख का जाना और दुःख का आना, यह वैधानिक सत्य है। इस सत्य का आदर किये बिना सुख की दासता तथा दुःख का भय नाश नहीं होता। यह सभी को विदित है कि जब यह नियम ही है कि जो आता है, वह चला जाता है। तो इस दृष्टि से सुख और दुःख दोनों ही सदैव नहीं रह सकते। जो नहीं रह सकता उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं कर सकते, कारण, कि उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। आये हुए सुख-दुःख के सदुपयोग में मानव सर्वदा स्वाधीन है। सुख का सदुपयोग उदारता और दुःख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता जगत् के लिए और विरक्ति अपने लिए उपयोगी है। उदारता तथा विरक्ति की पूर्णता स्वतः उसकी अनुरक्ति में परिणत हो जाती है, जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता है। इस दृष्टि से सुख-दुःख जो वैधानिक तथ्य है, साधन सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ होती है। इस कारण सुख और दुःख में भेद मानना, उनकी दासता तथा भय में आबद्ध होना भारी भूल है। यह सभी विचारशीलों का मत है कि भूल का अन्त करना होगा। भूल के ज्ञान में ही भूल के नाश की सामर्थ्य निहित है, अर्थात् भूल को भूल जान लेने पर वह स्वतः मिट जाती है। नाश उसी का होता है जिसकी प्रतीति हो, पर अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित न होना ही भूल को उत्पन्न करना है। यद्यपि उत्पत्ति का विनाश बिना ही प्रयास के स्वतः होता है, परन्तु उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना है। इस दृष्टि से भूल का अन्त करना है, उसे पुन दुहराना नहीं है।

सर्व प्रथम भूल प्रतीति तथा स्वीकृति में अहम्-बुद्धि है,

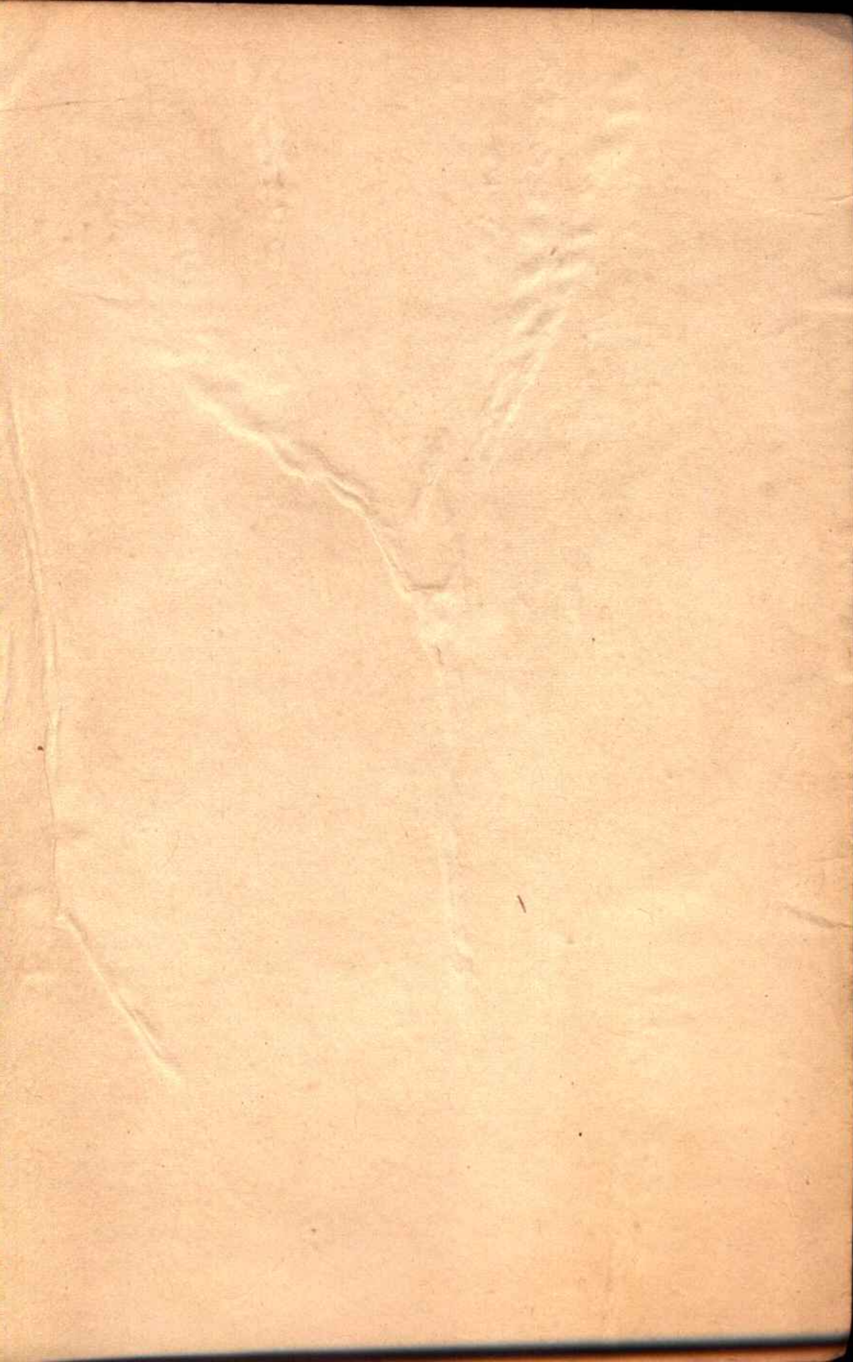
पर यह ज्ञात नहीं है कि इस भूल का आरम्भ कब से हुआ। किन्तु यह भूल वर्तमान में मिट सकती है। प्रतीति के तादात्म्य से काम का जन्म होता है, जिसके होते ही मानव पराधीनता, जड़ता, परिच्छिन्नता, अभाव आदि में आबद्ध होता है जो विनाश का मूल है। परन्तु कुछ स्वीकृतियाँ इस प्रकार की हैं जो व्यक्तियों, वर्गों, देशों, मजहबों एवं दलों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती हैं। वे स्वीकृतियाँ कर्त्तव्य की प्रतीक हैं और कुछ नहीं। कर्त्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा करना है और अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर कर्त्ता कर्त्तव्य के अन्त में स्वत: उसी की प्रियता हो जाता है जिसमें उसने आस्था की है। इस दृष्टि से किसी भी स्वीकृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वीकृति को ही 'मैं' मानना अथवा उसके अस्तित्व को स्वीकार करना मूल भूल है।

मानव-जीवन की मौलिक समस्या यही है कि जीवन में असफलता का दर्शन क्यों होता है, जबकि मानव का प्राकट्य ही सफलता के लिये हुआ है। असफलता की वेदना तो मानवेतर योनियों में न जाने कब से प्राणी भोग रहा है। जिस जीवन का निर्माण सभी के लिये उपयोगी होने में है, क्या वह उस जीवन में भी असफलता रह सकती है ? कदापि नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि असफलता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है; कारण, कि जो चाहते हैं सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है सो रहता नहीं। यह वर्तमान दशा है कि वास्तविक जीवन ? वर्तमान वस्तुस्थिति के आधार पर मानव-जीवन का अन्तिम-निर्णय करना अधूरा ज्ञान है और कुछ नहीं। अल्प-ज्ञान के आधार पर विकल्प-रहित निर्णय देना भूल है, जिसका

मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह अनुभूति कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, क्या कामना के त्याग का पाठ नहीं पढ़ाती ? अर्थात् पढ़ाती है। निष्कामता आने पर क्या जो होता है वह, और जो नहीं रहता है वह, कुछ अर्थ रखता है ? कुछ नहीं। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस निष्कामता के लिये मानव-जीवन मिला है, हम उसी को भूल जाते हैं और मानवेतर योनियों में जो कामनापूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख भोगते हैं, उसी सुख-दुःख का भोग मानव-जीवन में भी करना चाहते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि मानव को तो वह करना है जिसे कोई और नहीं कर सकता। अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाने पर ही मानव अपने में असफलता पाता है। जिस पराधीनता, असमर्थता और अभाव को लेकर मानव आया है, क्या उसी को लेकर जाना है ? कदापि नहीं। मानव स्वाधीनता, पूर्णता, चिन्मयता से अभिन्न हो सकता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने को साधक स्वीकार करे, अर्थात् उसका अपना कोई अपने लक्ष्य तक पहुँचने का निर्णीत पथ हो। यह सभी को विदित है कि मानव में जानने, मानने तथा करने की सामर्थ्य जन्मजात है। ऐसा कोई नहीं है जो कुछ न न जाने, न माने और कुछ न करे। करने की, जानने की और मानने की रुचि तथा सामर्थ्य सभी में है। करने की रुचि की पूर्णता कर्त्तव्य-पथ में, जानने की रुचि की पूर्णता विचार-पथ में एवं मानने की रुचि की पूर्णता आस्था के पथ में निहित है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी सद्भावना से राग-निवृत्ति के लिये करना ही कर्त्तव्य-पथ है। विवेक पूर्वक सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से असंग होना ही विचार-पथ है एवं बिना जाने प्रभु की आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति विश्वास-पथ है। कर्त्तव्य-परायणता तथा असंगता एवं शरणागति पथ हैं।

मानव अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पथ का पथिक क्यों न हो, लक्ष्य की प्राप्ति अनिवार्य है। परन्तु यह सजगता सभी साधकों के लिए अनिवार्य है कि पथ को ही लक्ष्य न मान बैठें। साधन साध्य नहीं है, पथ इष्ट-धाम नहीं है, किन्तु साधक की अभिन्नता साधन से ही होती है, अर्थात् प्रत्येक साधक साधन हो कर साध्य से अभिन्न होता है, अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व कुछ नहीं रहता। जब तक साधन और जीवन में एकता नहीं होती तब तक साधक अपने-अपने साधन के गीत गाता है और दूसरों के साधन की निन्दा करता है। यह साधक का प्रमाद है और कुछ नहीं। अपने पथ का अनुसरण करने पर दूसरों के पथ में स्वत: आदर का भाव उत्पन्न होता है जो पारस्परिक संघर्ष का अन्त कर विश्व-शान्ति में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक मानव मानव-दर्शन का आदर-पूर्वक अनुसरण करे। उसके लिये यह अनिवार्य है कि प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति-पूर्वक सब ओर से विमुख होकर अपनी ओर देखे। ऐसा करने से प्रत्येक मानव बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने पथ का निर्णय कर लक्ष्य की ओर चलने में अग्रसर होगा। अपने पथ का अनुसरण ही पथ की महिमा है। पथ का वर्णन उसकी महिमा नहीं है, अपितु पथ का अपमान है; कारण, कि सफलता से पूर्व पथ की महिमा का वर्णन क्या कुछ अर्थ रखता है ? कुछ नहीं। इतना ही नहीं, मजहबों, इज्मों एवं दलों में संघर्ष का कारण यही है कि मानव जिसकी महिमा गाता है, अपने को उसी से अलग पाता है। मानव-दर्शन प्राणी-मात्र की हित-कामना रखते हुए मानव-मात्र से नम्र निवेदन करता है कि मानव अपने दर्शन का अनुसरण कर अपनी आँखों देखे और अपने पैरों चले, सफलता अनिवार्य है।





मूल्य (३) रुपये मात्र

अनिल राय ६४.